सशस्त्र संघर्ष

भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए 'क्रान्ति के पथ' का सवाल (अथवा सशस्त्र संघर्ष का सवाल) एक पेचीदा राजनीतिक प्रश्न होने के साथ-साथ भावनात्मक स्तर पर भी एक बहुत परेशान करने वाला सवाल है। कामरेड चारू मजूमदार के दौर की 'व्यक्तिगत सफाये (individual annihilation) की लाइन' को तीन दशक पहले नकार देने के बाद भी यह परेशानी बनी हुई है। हमारे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आंदोलन में एक तरफ ऐसे संगठन हैं जो इस समय सशस्त्र संघर्ष में लगे हुए हैं और उसके लिए शहादतें दे रहे हैं। दूसरी ओर ऐसे संगठन हैं जो यह मानते हैं कि अभी सशस्त्र संघर्ष को संघर्ष का मुख्य रूप बनाना गलत है, कि इसका समय वर्ग-संघर्ष को और विकसित कर लेने के बाद ही आयेगा। पहली श्रेणी के संगठनों को दूसरी श्रेणी से यह शिकायत है कि वे सशस्त्र संघर्ष को अनन्त काल तक टाल रहे हैं, अर्थात क्रान्ति से पलायन कर रहे हैं। जबकि दूसरी श्रेणी के संगठनों को जहां एक और उनकी क्रान्तिकारी निष्ठा पर उठा सवाल परेशान करता है, वहीं उनके लिए इससे कहीं ज्यादा दिक्कत की बात यह है कि क्रान्ति के बेटे-बेटियों द्वारा गलत लाइन पर दी जाने वाली कुर्बानियां उनमें बहुत गहरी संवेदनात्मक पीड़ा को जन्म देती है।

उदाहरण के लिए, सशस्त्र संघर्ष में लगे एक संगठन CPI (ML-PW) को ही लिया जाये। 'व्यक्तिगत सफाये कि लाइन' को श70 के दशक में नकारने के बाद जब 1980 में इस संगठन ने नई समझदारी पर सशस्त्र संघर्ष की शुरूआत की, तब से लेकर अब तक अकेला यही संगठन अपने 2000 से ज्यादा कार्यकर्ताओं, शीर्ष नेताओं, हमदर्दों की भारतीय क्रान्ति के लिए शहादत दे चुका है। ऐसे ही सशस्त्र संघर्ष में लगे अन्य संगठन भी क्रान्ति की खातिर एक के बाद एक कुर्बानियां दे रहे हैं। यदि CPI (ML-PW) अथवा MCCI जैसे संगठनों की 'क्रान्ति के पथ' की समझदारी सही है तब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी खेमे के शेष संगठनों के लिए समस्या हल्की है। क्योंकि ऐसे में उन्हें अपनी गलती को ठीक करके (भविष्य के लिए अब तक हुई गलती से आवश्यक सबक निकाल कर) CPI (ML-PW)/MCCI की पातों में शामिल होकर सशस्त्र संघर्ष शुरू कर देना होगा। उक्त निष्कर्ष पर पहुंचने की स्थिति में संवेदनात्मक पीड़ा समाप्त हो जाती हैं क्योंकि कुर्बानियां जायज व जरूरी हो जाती हैं। मगर यदि ये शहादतें 'क्रान्ति के पथ' की गलत समझदारी की बदौलत हैं तब संवेदनात्मक संकट बना रहता है और हर अगली शहादत के साथ गहराता है। हम अभिशप्त हैं कि इस पीड़ा को तब तक झेलें जब तक 'क्रान्ति के पथ' के सवाल का सही तरीके से निपटारा नहीं हो जाता है। चूंकि हमारी आत्मिक परेशानियों का निपटारा भी राजनीतिक वाद-विवाद द्वारा ही हो सकता है, इसलिये इस राजनीतिक सवाल के जल्द से जल्द एवं सही निपटारे के लिए हम राजनीतिक दलीलें दे रहे हैं।

प्रस्तुत आलेख में हम देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर में सशस्त्र संघर्ष के सवाल पर विभिन्न संगठनों की अवस्थितियों का एक मोटा वर्गीकरण करेंगे; सशस्त्र संघर्ष के सवाल पर मार्क्सवाद की बुनियादी अवधारणाओं एवं पहुंच की बातें दोहरायेंगे; चीनी क्रान्ति के रास्ते के बारे में

बात करेंगे; भारत की क्रान्ति के लिए दीर्घकालिक लोक-युद्ध के रास्ते की उपयोगिता का विवेचन करेंगे; नेपाल के उदाहरण से सीखने का प्रयास करेंगे; और अन्त में आवश्यक निष्कर्ष निकालेंगे।

I

सशस्त्र संघर्ष के सवाल पर भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों में मतभेद

हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों में सशस्त्र संघर्ष के सवाल पर गहरे मतभेद हैं। मतभेद इस बात पर नहीं है कि कोई भी संगठन बिना सशस्त्र संघर्ष के क्रान्ति की विजय के बारे में सोचता हो । सभी संगठन एकमत हैं कि सशस्त्र संघर्ष के जरिये ही क्रान्ति विजयी हो सकती है। मतभेद मूलत: इस बात पर है कि सशस्त्र संघर्ष कब और कैसे किया जाये? इन मतभेदों की प्रकृति केवल वस्तुगत परिस्थिति के अलग-अलग मूल्यांकनों तक सीमित नहीं है। मतभेद इससे कहीं ज्यादा गहरे हैं। मतभेदों की जड़ में सशस्त्र संघर्ष के प्रति पहुंच (approach) की भिन्नताएं हैं। अर्थात अपने अंतिम विश्लेषण में मतभेद जन-दिशा (mass-line) के स्तर पर हैं।

सशस्त्र संघर्ष के प्रति भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों में तीन रूझान हैं। एक श्रेणी उन संगठनों की है जो वर्ग-संघर्ष की वर्तमान स्थिति में सशस्त्र संघर्ष का संचालन कर रहे हैं या इसकी तैयारियों में लगे हुए हैं। ये संगठन दीर्घकालिक लोक-युद्ध (protracted people's war) के जरिये राजसत्त पर कब्जा करना चाहते हैं। दूसरी श्रेणी उन संगठनों की है जो दीर्घकालिक लोक -युद्ध के जरिये तो क्रान्ति को विजयी बनाना चाहते हैं, परन्तु उनकी नजर में वर्ग-संघर्ष के वर्तमान स्तर पर सशस्त्र संघर्ष की शुरूआत करना गलत है। इनके मुताबिक वर्ग-संघर्ष अभी उस स्तर पर नहीं पहुंचा है कि कम्युनिस्ट सशस्त्र संघर्ष को ही संघर्ष का मुख्य रूप मानें और उसकी प्रमुखता को स्वीकारते हुए अपने कार्यों का नियोजन करें। इनके मुताबिक अभी जन-संगठन ही (कम्युनिस्ट पार्टी के इतर) संगठन का मुख्य रूप होना चाहिए और राजनीतिक संघर्ष ही संघर्ष का मुख्य रूप होना चाहिए। तीसरी श्रेणी उन संगठनों की है जिनके मुताबिक भारत में दीर्घकालिक लोक-युद्ध की रणनीति गलत है। कि भारत में आम-विद्रोह (insurrection) की रणनीति को अपनाकर ही जन-दिशा लागू की जा सकती है, कि भारत में इलाकायी आधार पर सत्त दखल की सम्भावनाएं नहीं हैं। दूसरी व तीसरी श्रेणियों के बीच के मतभेद, ऊपरी तौर पर, राष्ट्रीय परिस्थिति के अलग-अलग मूल्यांकन की बदौलत उपजे लगते हैं परन्तु अपने अन्तर्य में ये पहुंच के मतभेद हैं।

मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं एवं रूसी व चीनी क्रान्ति के अनुभवों के आईने में इनका विश्लेषण करने के पहले हम इन मतभेदों का खुलासा करेंगे। तीनों श्रेणियों का खुलासा हम उक्त क्रम में ही करेंगे।

सी.पी.आइ. (एम.एल-पी. डब्लयू), एम.सी.सी.आइ. और सी.पी.आइ. (एम.एल.-नक्सलबाड़ी) में समानता यह है कि ये संगठन आरम्भ से ही सशस्त्र संघर्ष की प्रमुखता पर जोर देते हैं, हालांकि सी.पी.आइ. (एम.एल.-नक्सलबाड़ी) की समग्र-युद्ध (Total war) की अवधारणा पर इस श्रेणी के संगठनों से पूर्ण सहमति नहीं बनती है। ये सभी संगठन मानते हैं कि भारत में निरंतर क्रान्तिकारी

स्थिति (Continuous revolutionary situation) बनी हुई है, और चूंकि देश का असमान आर्थिक एवं राजनीतिक विकास हुआ है इसलिये यहां दीर्घकालिक जन-युद्ध के संचालन से इलाकायी आधार पर सत्त दखल किया जा सकता है। उक्त अवस्थिति इस स्वीकारोक्ति के बावजूद है कि भारत में दुश्मन के पास आधुनिक संचार एवं सम्पर्क साधनों से सम्पन्न एक मजबूत केन्द्रीकृत राजसत्त है। उक्त अवस्थिति की रणनीति में 'मुक्त आधार क्षेत्र' कायम किये जाने हैं और गांवों से शहरों को घेरा जायेगा, हालांकि विभिन्न संगठनों की कार्यनीति में शहरों में क्रान्ति कार्यों पर जोर की भिन्नताएं हैं।

इस रूझान की लाक्षणिक विशेषता है क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर में ही सैन्य संगठन को संगठन का मुख्य रूप मानना और सशस्त्र संघर्ष को संघर्ष का मुख्य रूप मानना सशस्त्र संघर्ष की प्रमुखता पर जोर को समझने के लिये CPI (ML-PW) एक प्रातिनिधिक उदाहरण बनती है। इस संगठन का गठन 22 अप्रैल 1980 को हुआ। 1981 आते-आते यह संगठन अपने 1/3 कार्यकर्ताओं को सशस्त्र संघर्ष में उतार चुका था। तब से लेकर अब तक सशस्त्र संघर्ष इसकी गतिविधियों के केन्द्र में रहा है। इस रूझान के संगठनों का मानना है कि भारत में जो संगठन क्रान्ति के आरम्भिक चरण से ही सशस्त्र संघर्ष की प्रमुखता को नहीं स्वीकारते वे दरअसल किसी न किसी बहाने से सशस्त्र संघर्ष को अनन्त काल तक टालना चाहते हैं, अर्थात्क्रान्ति से पलायन कर रहे हैं।

नव-जनवादी क्रान्ति की धुरी के बतौर क्रान्तिकारी कृषि आंदोलन को विकसित करने पर जोर दूसरी श्रेणी के संगठनों की समान विशेषता है। ये संगठन वर्ग-संघर्ष के विकास के विभिन्न चरणों की बात करते हैं और मानते हैं कि सशस्त्र संघर्ष के लिये अनुकूल परिस्थितियां वर्ग-संघर्ष के विकास के उच्च चरण में ही पैदा होती है न कि आरम्भिक चरणों में । इनके मुताबिक यदि वर्ग-संघर्ष के निम्न स्तर पर सशस्त्र संघर्ष की शुरूआत कर दी जाये तो वह जन-युद्ध नहीं बन सकता है, उसमें जन भागीदारी नहीं हो पायेगी क्योंकि जन अभी उसके लिये तैयार नहीं हैं। इस रूझान को सामान्यत: चरण-सिद्धान्त (चीम जीमवतल) के नाम से जाना जाता है। इन संगठनों का इस बात से इंकार नहीं है कि दुश्मन क्रान्तिकारियों के खिलाफ प्रति-क्रान्तिकारी हिंसा का प्रयोग उनकी गतिविधियों के आरम्भिक चरण से ही करने लगता है। ये संगठन कहीं से भी भारत में ऐसी लम्बी अवधियों की परिकल्पना नहीं करते जिसमें कानूनी-संवैधानिक संस्थाओं का उपयोग करते हुए क्रान्ति शांतिपूर्ण स्थितियों में आगे बढ़ पायेगी। ये प्रति क्रान्तिकारी हिंसा की सामान्य मौजूदगी को स्वीकारते हैं और ये क्रान्ति की हिफाजत के लिए आरम्भिक चरणों में सैन्य-संगठन को केन्द्रीय अहमियत देने के लिये तैयार नहीं हैं। सामान्यत: टी. नागी रेड्डी/डी.बी राव की परम्परा को सही मानने वाले संगठन इस श्रेणी में आते हैं।

चरण-सिद्धान्त की श्रेणी के तहत एक विशिष्ट उप-श्रेणी उन संगठनों की बनती है तो प्रतिरोध-संघर्ष (resistance struggle) के सिद्धान्त को मानते हैं। चन्द्र पुल्ला रेड्डी परम्परा के वारिस मसलन सी.पी.आइ (एम.एल.-जनशक्ति), सी.पी.आइ. (एम.एल.-न्यू डेमोक्रेसी) जैसे संगठन इस उप-श्रेणी के घटक हैं। इस उप-श्रेणी के संगठन प्रतिरोध-संघर्ष को वर्ग संघर्ष के विभिन्न चरणों में एक विशिष्ट चरण मानते हैं। प्रतिरोध संघर्ष सशस्त्र संघर्ष नहीं है। यह गुरिल्ला युद्ध के पहले का चरण है। इसमें संगठन का मुख्य रूप सैन्य संगठन नहीं होता है। संगठन का मुख्य रूप जन संगठन ही रहता है। लेकिन प्रतिरोध संघर्ष की खासियत यह है कि इसे रणनीतिक क्षेत्रों (strategic area's) में संचालित किया जायेगा। इसमें कम्युनिस्ट पार्टी एवं उसकी गतिविधियों की रक्षा के लिए

ग्राम स्तर के सामान्य सशस्त्र दस्तों (जिनमें किसान या अन्य अल्पकालिक कार्यकर्ता होते हैं) से आगे बढ़कर विशिष्ट सैन्य -दस्तों (जिनकी प्रकृति 'मिलिशिया' से भिन्न, स्थायी व पूर्णकालिक होती है) का गठन किया जाता है। ये प्रतिरोध दस्ते, गुरिल्ला दस्ते इसलिये नहीं हैं क्योंकि इनका काम राजसत्त को उखाड़ फेंकने के लिये युद्ध करना नहीं है, ये आत्म रक्षा के लिये हैं। इन आत्मरक्षक दस्तों की आक्रामकता इतने तक सीमित है कि इनका उपयोग देहात में बड़े जमींदारों के प्राधिकार को समाप्त करने के लिये किया जा सकता है, लेकिन ये राजसत्त की पुलिस व सेना पर आक्रामक हमले नहीं करेंगे।

सशस्त्र संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में तीसरी श्रेणी उन संगठनों की बनती है जिनका मानना है कि यह माओ-विचारधारा का कोई आम नियम नहीं है कि साम्राज्यवाद से उत्पीड़ित तीसरी दुनिया के देशों में क्रान्ति दीर्घकालिक लोक-युद्ध के रास्ते से ही विजयी होगी। इन देशों में से कुछ में ऐसा हो भी सकता है, और अनेक में ऐसा नहीं हो पायेगा। किसी देश के लिए दीर्घकालिक लोक-युद्ध की रणनीति सही है या गलत, यह उस देश की विशिष्ट राष्ट्रीय परिस्थिति से तय होगा न कि किसी आम सर्वव्यापी प्रमेय से। विशिष्ट तौर पर भारत की वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थिति वैसी ''असाधारणता'' लिये हुए नहीं है जिसके आधार पर माओ ने यह सूत्रित किया था कि चीन में लाल सत्त कायम हर सकती है। विशिष्ट तौर पर वर्तमान भारत उस श्रेणी के देशों में भी नहीं आता जिन्हें माओ ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की बदली हुई नयी परिस्थिति के कारण ऐसा माना था कि इनमें दीर्घकालिक लोक-युद्ध का संचालन करके क्रांति विजयी हो सकती है। इस श्रेणी के संगठनों का मानना है कि 1917 की रूसी क्रान्तियों की तरह भारतीय क्रान्ति आम -विद्रोह के रास्ते से ही विजयी हो पायेगी। कि भारत जैसे विशाल एवं असमान आर्थिक विकास वाले देश के लिये भी आम-विद्रोह की रणनीति एक सही रणनीति है। हां, इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय क्रान्ति कानूनी-संवैधानिक संस्थाओं का लम्बे समय तक उपयोग करते हुए शांतिपूर्ण स्थितियों में विकसित नहीं हो पायेगी। उसे जारकालीन रूस कि तरह प्रति-क्रान्तिकारी हिंसा की सामान्य मौजूदगी को स्वीकारना पड़ेगा, गुप्त पार्टी-संगठन, कानूनी व गैर कानूनी दोनों प्रकार के जन-संगठनों का गठन करते हुए आगे बढ़ना होगा। कि आत्मरक्षा के लिये किन्हीं स्थायी अथवा अस्थायी सशस्त्र टुकिड़यों को गठन एवं लाल आतंक (red terror) को यदा-कदा उपयोग के बावजूद भारतीय क्रान्तिकारियों को लम्बे समय तक राजनीतिक संघर्ष को ही संघर्ष का मुख्य रूप बनाना होगा। वर्ग-संघर्ष की बहुत विकसित अवस्था, व्यवस्था के तीव्र घनीभूत संकट, जनता की बागी मानसिकता की स्थितियों में ही सैनिक कार्यवाही के इर्द-गिर्द अपनी सारी गतिविधियों को केन्द्रित करके आम-विद्रोह की कोशिशें करनी होंगी।

इस श्रेणी के संगठनों का मानना है कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता चीनी क्रान्ति के रास्ते से ज्यादा कठिन है। भारत में आधुनिक संचार एवं सम्पर्क साधनों से युक्त एक सशक्त केन्द्रीकृत राज मशीनरी है जो बहुत कम समय में देश के किसी भी इलाके में भारी मात्रा में सशस्त्र बल संकेन्द्रित कर सकती है। भारत में चीन जैसी स्थिति नहीं है जिसमें शासक वर्ग के विभिन्न धड़े आपस में सशस्त्र संघर्ष चला रहे हों और उनकी वर्ग-सत्त विकेन्द्रित व कमजोर हो गयी हो, जिस ''असाधारण'' स्थिति कि बदौलत लाल मुक्त क्षेत्र कायम रख पाना सम्भव हो । कम्युनिस्ट अपनी युद्ध नीति ठोस स्थितियों एवं उनके सम्भावित विकास पर ही आधारित कर सकते हैं। भारत के कम्युनिस्टों को अपनी युद्ध नीति इस अटकलबाजी पर आधारित नहीं करनी चाहिए कि शासक वर्ग के

संकट के गहराने के साथ उसके विभिन्न धड़ों में युद्ध छिड़ जायेगा और तब चीन जैसी ''असाधारण'' स्थिति पैदा हो जायेगी जिसमें लाल मुक्त क्षेत्र कायम किये जा सकेंगे। इस अटकलबाजी के सही साबित होने के बजाय ज्यादा सम्भावना इसी बात की है कि शासक वर्ग के तीखे-घनीभूत संकट के बावजूद भारतीय राजसत्त विकेन्द्रित होने के बजाय वैसी ही केन्द्रीकृत बनी रहेगी जैसी रूस में प्रथम विश्व युद्ध की संकटकालीन स्थितियों में भी बनी रही । फिर भारत में सम्पर्क एवं संचार का चीन जैसा पिछड़ापन नहीं है और न पैदा होगा। इस श्रेणी के संगठनों का मानना है कि सर्वहारा की युद्ध नीति को ठोस परिस्थितियों एवं उनके सम्भावित विकास पर आधारित न करके, अटकलबाजियों पर आधारित करने की गलती महज मूल्यांकन (evaluation) की गलती नहीं बल्कि पहुंच (approach) की गलती है। ऐसी पहुंच झूठे आशावाद को जन्म देती है और जन-दिशा को लागू करने में आड़े आती है। वास्तविक कठिनाइयों से रू-ब-रू हो कर ही जनता एवं कम्युनिस्ट कतारों में क्रान्ति के प्रति समर्पण पैदा किया जा सकता है, न कि झूठे आशावाद के सहारे।

II

सशस्त्र संघर्ष के मुद्दे पर मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनायें एवं पहुंच

संघर्ष के विभिन्न रूपों, जिनमें सशस्त्र संघर्ष एक है, के प्रति कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की क्या पहुंच होनी चाहिए के बारे में लेनिन ने 1905 के छापामार युद्ध का सार-संकलन करते हुए बुनियादी सैद्धान्तिक प्रस्थापनायें दी हैं। वे कहते हैं-

> ''शुरूआत शुरू से करें। संघर्ष के रूपों के प्रश्न के विवेचना से हर मार्क्सवादी को क्या बुनियादी अपेक्षाएं करनी चाहिए? पहली चीज, मार्क्सवाद समाजवाद के तमाम अपरिष्कृत रूपों से इस बात में भिन्न है कि वह आंदोलन को संघर्ष के किसी एक विशेष रूप को मान्यता देता है, इसके अलावा वह उन्हें 'गढ़ता'' नहीं, बल्कि मात्र क्रान्तिकारी वर्गों के संघर्ष के उन रूपों का सामान्यीकरण करता है, उन्हें संगठित करता है तथा उन्हें सचेत अभिव्यक्ति देता है, जो आंदोलन के दौरान स्वयं जन्म लेते हैं। समस्त अमूर्त फार्मूलों और समस्त मताग्रहवादी नुस्खों का असंदिग्ध शत्रु मार्क्सवाद चल रहे उस **जन**-संघर्ष की ओर सावधानी भरा रूख अपनाने की अपेक्षा करता है, जो आंदोलन के विकसित होने के साथ, जन-साधारण की वर्ग चेतना की वृद्धि के साथ, आर्थिक तथा राजनीतिक संकटों के तीक्ष्ण होने के साथ बचाव और धावे की नयी तथा अधिक विविध विधियों को जन्म देता है। इसलिए मार्क्सवाद संघर्ष के किसी भी रूप को निश्चित रूप से नहीं ठुकराता। मार्क्सवाद संघर्ष के केवल संबद्ध घड़ी में सम्भव तथा विद्यमान रूपों तक अपने को किसी भी सूरत में सीमित नहीं रखता, वह तो इसे मान्यता देता है कि संघर्ष के नये रूप, जो संबद्ध कालावधि में कार्यकर्ताओं के लिए अज्ञात होते **हैं,** संबद्ध सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन के साथ **अनिवार्यतः उत्पन्न होते हैं।** इस मामले में मार्क्सवाद

जन-साधारण के अमल से सीखता है अगर ऐसा कहना संभव हो–और अपने बंद अध्ययनकक्षों में ''व्यवस्थापनकर्ताओं'' द्वारा गढ़े गये संघर्ष के रूप जन साधारण को **सिखाने** का दावा करने से वह कोसों दूर रहता है। हम जानते हैं– उदाहरण के लिये, काउत्स्की ने सामाजिक क्रांति के रूपों पर विचार करते समय कहा था– कि आनेवाला संकट हमारे सामने संघर्ष के ऐसे नये रूप प्रस्तुत करेगा, जिनका हम इस समय पूर्वानुमान नहीं कर सकते।

''दूसरी चीज, मार्क्सवाद संघर्ष के रूपों के प्रश्न पर बिलकुल **ऐतिहासिक ढंग से** विचार करने की अपेक्षा करता है। इस प्रश्न को ठोस ऐतिहासिक स्थिति से बाहर रखने का अर्थ द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के ककहरे को नहीं समझना है। आर्थिक विकासक्रम की विभिन्न अवधियों में, राजनीतिक, जातीय, सांस्कृतिक अवस्थाओं, जीवनयापन आदि की अवस्थाओं में अंतरों के अनुसार संघर्ष के विभिन्न रूप उभरकर सामने आते हैं, संघर्ष के प्रमुख रूप बन जाते हैं और इस सिलसिले में संघर्ष के द्वितीयक, अनुषांगिक रूप अपनी बारी में परिवर्तन के बीच से गुजरते हैं। संबद्ध आंदोलन के विकास की संबद्ध मंजिल में इस आंदोलन की ठोस स्थिति पर विस्तारपूर्वक विचार किये बिना संघर्ष के किसी खास साधन के बारे में हां या न में उत्तर देने की कोशिश का अर्थ मार्क्सवादी स्थिति की पूर्ण तिलांजली देना है।

''ये हैं दो आधारभूत सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएं, जिनसे हमें निर्देशित होना चाहिए।. ....''

(लेनिन; 'छापामार युद्ध', संकलित रचनाएं, खण्ड-6, पृष्ठ 301.302; प्रगति प्रकाशन, मास्को; जोर मूल में)

योजनाबद्धता के प्रबल समर्थक और स्वत: स्फूर्तता की पूजा के घोर विरोधी लेनिन के निर्देश हैं कि –

1. क्रान्तिकारियों को समझना चाहिए कि आंदोलन, जन साधारण की वर्ग-चेतना में वृद्धि के साथ, आर्थिक तथा राजनीतिक संकटों के तीक्ष्ण होने के साथ 'विविध विधियों' को जन्म देता है।

2. क्रान्तिकारियों को यह भी समझाना चाहिए कि संघर्ष के रूप ''**स्वयं** जन्म लेते हैं''।

3. जन-साधारण को संघर्ष के रूप सिखाने के बजाय मार्क्सवाद इस मामले में जन-साधारण के अमल से सीखने में यकीन करता है।

4. संघर्ष की विभिन्न मंजिलों में संघर्ष के विभिन्न रूप उभर कर सामने आते हैं और स्थितियों के अनुसार संघर्ष के प्रमुख रूप बन जाते हैं, (बनाये नहीं जाते) और द्वितीयक, अनुषांगिक रूप अपनी बारी में परिवर्तित होते हैं।

5. संघर्ष के रूपों के जन्मदाता बनने के बजाय क्रान्तिकारियों की भूमिका इतने तक सीमित है कि वे आंदोलन के दौरान जन्म ले चुके रूपों का सामान्यीकरण करें, उन्हें संगठित करें।

6. आंदोलन को संघर्ष के किसी एक विशेष रूप के साथ बांधने की गलती न करें।

किसी आंदोलन में, जन-संघर्ष के रूप **''स्वयं''** कैसे जन्म लेते हैं, इसका जीवन्त वर्णन लेनिन 1906 की एक अन्य रचना में मिलता है।

''मुख्यत: उन वस्तुगत परिस्थतियों के दबाव के फलस्वरूप, जो अक्टूबर के बाद पैदा हो गयी थीं, हड़ताल विद्रोह का रूप धारण करने लगी थी। अब यह सम्भव न था कि आम हड़ताल इस तरह हो जाये कि सरकार उसका मुकाबला करने के लिये तैयार न हो; सरकार ने पहले ही से प्रतिक्रान्ति को संगठित कर लिया था, जो फौजी कार्यवाही के लिये तैयार थी। अक्टूबर के बाद रूसी क्रान्ति के आम विकासक्रम ने तथा दिसम्बर के उन दिनों में मास्को के घटनाक्रम ने मार्क्स की एक सारगर्भित प्रस्थापना की पुष्टि में ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत किये हैं: क्रान्ति की प्रगति इसलिये होती है कि वह सुदृढ़ तथा एकबद्ध प्रतिक्रान्ति को जन्म देती है, अर्थात्वह शत्रु को सुरक्षा के अधिकाधिक उग्र उपायों का सहारा लेने पर बाध्य करती है और इस प्रकार आक्रमण के अधिक शक्तिशाली साधन तैयार करती है।

''दिसम्बर 7 तथा 8 : शांतिपूर्ण हड़ताल, शांतिपूर्ण जनव्यापी प्रदर्शन। 8 तारीख की शाम : एक्वेरियम की घेरेबंदी। 9 तारीख, दिन के वक्त: स्त्रास्तनाया स्कवायर में जन-समुदाय पर घुड़सवार सैनिकों का आक्रमण। शाम: फीडलर का घर तहस-नहस कर दिया गया । रोष बढ़ता है। सड़कों पर फिरती हुई असंगठित भीड़ बिल्कुल स्वत: स्फूर्त ढंग से तथा झिझकते हुए प्रथम मोर्चेबंदियां खड़ी करने लगीं।

10 तारीख : मोर्चेबंदियों पर और सड़कों पर फिरते जन-समूहों पर तोपें दागी जाने लगीं। अधिक विश्वासपूर्वक मोर्चेबंदियां खड़ी की जाने लगी। अब इक्का-दुक्का स्थानों पर नहीं, बल्कि सचमुच बहुत बड़े पैमाने पर। पूरी आबादी सड़कों पर निकल आयी है; नगर के सभी मुख्य केन्द्रों में मोर्चेबंदियों का एक जाल-सा बिछ गया है। कई दिन तक लड़ने वाले दस्ते फौज के विरूद्ध डटकर छापामार लड़ाई लड़ते हैं, जिस से सेना थक जाती है और दुबासोव को कुमक के लिये प्रार्थना करने पर बाध्य होना पड़ता है। केवल 15 दिसम्बर को जाकर ही सरकारी सेना की श्रेष्ठता पूरी तरह स्थापित होती है और 17 दिसम्बर को सोम्योनोव्स्की रेजिमेंट विद्रोह के अंतिम गढ़, प्रेस्नया नामक मोहल्ले पर तूफानी हमला करके उस पर कब्जा कर पायी है।

''हड़ताल और प्रदर्शनों से इक्की-दुक्की मोर्चेबंदियों तक। इक्की-दुक्की मोर्चेबंदियो ंसे व्यापक रूप से मोर्चेबंदिया खड़ी करने और सड़कों पर सेना के विरूद्ध लड़ने तक। संगठनों को नजरअंदाज करते हुए सर्वहारा वर्ग के जन-संघर्ष ने एक हड़ताल से बढ़कर एक विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यह दिसम्बर, 1905 की रूसी क्रान्ति की महानतम ऐतिहासिक उपलब्धि है; और इससे पहले की सभी उपलब्धियों की तरह इसके लिये भी अपरिमित बलिदानों का मूल्य चुकाना पड़ा। इस आंदोलन को एक सर्वव्यापी राजनीतिक हड़ताल से ऊंचा उठाकर एक उच्चतर अवस्था में पहुंचा दिया गया।....''

(लेनिन; 'मास्को विद्रोह के सबक' संकलित रचनाएं दस खण्ड में, खण्ड . 3, पृष्ठ 291.292; प्रगति प्रकाशन, मास्को)

मात्र एक सप्ताह की अल्प अवधि में सर्वहारा वर्ग के संघर्ष में संघर्ष का प्रमुख रूप शांतिपूर्ण प्रदर्शनों से गुजरते हुए मोर्चेबन्दी तक और छापामार युद्ध में स्वयं तब्दील होता चला गया। संघर्ष के उत्तरोत्त्र उच्च रूपों की किसी कम्युनिस्ट संगठन ने न तो शुरूआत की न किसी अन्य तरीके से उन्हें गढ़ा । वे आंदोलन के विकास में स्वत: पैदा होते गये।

ऐसे में कम्युनिस्टों को क्या करना चाहिये था? क्या उन्हें नियतिवादी होकर इनका विवेचन करना चाहिए था या इनमें हाथ बंटाने तक अपने की सीमित रखना चाहिए था? **नहीं**, लेनिन इसका जवाब कदापि नहीं में देते हैं। वे अफसोस जताते हैं कि ऐसी स्थिति में कम्युनिस्टों ने वह नहीं किया जो उन्हें करना चाहिए था। कम्युनिस्टों ने आगे बढ़ते सर्वहारा को नेतृत्व प्रदान नहीं किया, एक के वाद एक अस्तित्व में आ रहे उत्तरोतर उच्च रूपों का सामान्यीकरण नहीं किया, उन्हें व्यवस्थित नहीं किया, वे लिखते हैं:

> ''संघर्ष की वस्तुगत परिस्थितियों में परिवर्तन को, जो हड़ताल से विद्रोह में संक्रमण करने का तकाजा करता था, सर्वहारा वर्ग ने अपने नेताओं की अपेक्षा जल्दी समझ लिया। जैसा कि हमेशा होता है, व्यवहार सिद्धांत से आगे निकल गया। शांतिपूर्ण हड़ताल और प्रदर्शनों से मजदूरों को अब जरा भी संतोष न होता था; वे पूछते थे: अब इसके बाद क्या किया जाये? और वे अधिक दृढ़ कार्रवाई की मांग करने लगे। मोर्चेबंदियां खड़ी करने के आदेश मोहल्लों में बहुत देर में पहुंचे, उस समय, जबकि नगर के केन्द्रीय भाग में मोर्चेबंदियां करने का काम आरम्भ भी हो चुका था। मजदूर बहुत बड़ी संख्या में काम में जुट गये, **पर उन्हें इससे भी संतोष नहीं हुआ;** वे जानना चाहते थे: इसके बाद क्या करना है? -वे मांग कर रहे थे कि सक्रिय कदम उठाये जायें। दिसम्बर में हम लोग, सामाजिक-जनवादी सर्वहारा वर्ग के नेता उस प्रधान सेनापति जैसे थे, जिसने अपनी सेनाओं को इतने बेतुके ढंग से तैनात किया हो कि उनमें से अधिकांश के लिये लड़ाई में हिस्सा लेने की नौबत ही न आये। आम मजदूर जनव्यापी पैमाने पर कोई सक्रिय कदम उठाने के आदेश ढूंढ़ रहे थे, पर उन्हें उस प्रकार के आदेश न मिल सके।
>
> ''इस प्रकार प्लेखानोव के इस मत से, जिसे सभी अवसरवादी ले उड़े हैं, अधिक दूरदर्शिता की बात दूसरी हो ही नहीं सकती थी, कि हमें ''हथियार नहीं उठाने चाहिये थे। इसके विपरीत हमें अधिक दृढ़ता, उत्साह और आक्रामक भावना के साथ हथियार उठाने चाहिये थे; हमें जन-साधारण को यह समझाना चाहिये था कि केवल शांतिपूर्ण हड़ताल ही असंभव थी और यह कि निर्भीकता तथा निर्ममता के साथ हथियार लेकर लड़ना अपरिहार्य था।....
>
> (वही, पृष्ठ-292.293, जोर मूल में)

लेनिन की शिक्षाओं में सर्वहारा की पार्टी के लिये पिछलग्गूपन अक्षम्य है। 1905 में रूस के सामाजिक-जनवादी पिछलग्गू साबित हुए। वे संघर्षरत सर्वहारा को नेतृत्व न प्रदान कर सके। बारह वर्ष बाद उन्होंने वह गलती नहीं दोहरायी। बाहर वर्ष वाद जब मौका फिर हाथ लगा तो वे अपने सिद्धान्त को व्यवहार के विकास के साथ उन्नत करते गये और उन्होंने सोवियत सत्त स्थापित कर दी।

सर्वहारा की पार्टी के लिये जहां पिछलग्गूपन अक्षम्य है, वहीं हिरावलवाद भी अक्षम्य है। मार्क्सवाद, कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को इस बात की इजाजत नहीं देता कि वे संघर्ष में ऐसे रूपों को प्रमुखता में लायें जिन्हें अपनाने के लिये अभी जन-साधारण तैयार न हो। 8 दिसम्बर, 1905 के पहले मोर्चेबंदी और छापामार युद्ध की बात करना हिरावलवाद होता, तब केवल सामाजिक-जनवादी ही इस कार्यवाही में लगे होते। 10 दिसम्बर, 1905 के बाद मोर्चेबंदी को बढ़ावा न देना, जार की सेना के सैनिकों को अपनी तरफ मिलाने की कोशिशें न करना छापामार युद्ध को संगठित न करना पिछलग्गूपन था।

संघर्ष व संगठन के रूपों के चयन में, जहां समय से पहले उच्च रूप को अख़्तियार करना एक तरह की गलती है (यानि उस रूप को प्रमुखता देना जिसके लिये अभी जन तैयार न हो), वहीं उच्च रूप को एक बार अपना लेने के बाद उससे पीछे न हटना और निम्न स्तर के रूप को न अपनाना भी तब गलती होती है जब जनता उच्च रूप में भागीदारी करना बन्द कर दे। इस मामले में भी 1905 की क्रान्ति की शिकस्त के बाद के दौर में बोल्शेविक पार्टी ने निम्न स्तर के रूपों को प्रमुखता देने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं दिखायी। सी.पी.एस.यू की केन्द्रीय समिति लिखती है:

> ''लेकिन पार्टी की कार्यनीति वही नहीं हो सकती थी जो 1905 में क्रांति के उठते हुए ज्वार के समय थी। मिसाल के लिये, निकट भविष्य में आम जनता से आम राजनीतिक हड़ताल करने के लिये या सशस्त्र विद्रोह करने के लिये कहना गलत होता, क्योंकि क्रांतिकारी आंदोलन मन्द पड़ रहा था, मजदूर वर्ग बहुत ही थकान की हालत में था और प्रतिक्रियावादी वर्गों की स्थिति काफी मजबूत हो चुकी थी। पार्टी को नयी हालत ध्यान में रखनी थी। हमलावर कार्यनीति के बदले, शक्तियों को बटोरने की कार्यनीति-कार्यकर्ताओं को अंडरग्राउण्ड में हटा ले जाने की कार्यनीति, अंडरग्राउण्ड रह कर पार्टी का काम चलाने की कार्यनीति और कानूनी मजदूर संगठनों में गैर-कानूनी काम चलाने की कार्यनीति, से काम लेना था।
>
> ''....आम जनता से सम्बन्ध कायम रखने के लिये, बोल्शेविकों ने ट्रेड-यूनियनों और दूसरी कानूनी तौर पर चलने वाली सार्वजनिक संस्थाओं से काम लिया जैसे रोगी-सहायक-सभा, मजदूरों की सहयोगी-समितियों, क्लबों, शिक्षा-सभायें और जन-सभाएं वगैरह। बोल्शेविकों ने राज्य दूमा के मंच से काम लिया, जिससे कि वे जारशाही नीति का का पर्दाफाश कर सकें, कांस्टीट्यूशनल डेमोक्रेटों का भण्डाफोड़ कर सकें ।....''
>
> (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास; कामगार प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ 156.157)

कुछ लोगों का मत हो सकता है कि दीर्घकालिक लोक युद्ध की अवधारणा माओ-त्से तुंग की मौलिक खोज है। अर्थात्यदि लेनिन और बोल्शेविकों को यह अवधारणा सूझ जाती तो वे दिसम्बर 1905 के जनयुद्ध को रूस जैसे विशाल, पिछड़े एवं असमान विकास वाले देश में जारी रखने का प्रयास करते तो वे रोगी सहायक-सभाएं, मजदूर सहयोग-समितियों, क्लबों, शिक्षा-सभाओं, जन-सभाओं जैसे निम्न रूपों को अपनाने के लिये विवश न हुए होते। लेकिन यह मत गलत है। लेनिन एवं बोल्शेविक दीर्घकालिक प्रकृति के जन-युद्धों से परिचित थे। उनके सामने अंग्रेजों के विरूद्ध

अमरीकी जनता के दीर्घकालिक मुक्ति-संघर्ष और उसके बाद सिमोन बोलिवार के नेतृत्व में ेलातिन अमेरिका की जनता के दीर्घकालिक युद्धों के उदाहरण मौजूद थे। अगर 1905 के बाद रूस की वस्तुगत परिस्थितियां इजाज़त देती तो सर्वहारा के नेतृत्व में, 1905 में शुरू हुए जनयुद्ध को दीर्घकाल तक जारी रखने के प्रयास बोल्शेविकों ने जरूर किये होते । लेकिन 1905 के बाद वस्तुगत तौर पर वैसी राष्ट्रव्यापी क्रांतिकारी परिस्थिति लगातार विकसित नहीं होती रही जैसी चीन में 20 वीं सदी के पूर्वार्ध में हो रही थी, इस लिये बोल्शेविक जनता के बीच 1905 में पैदा हुए उच्च रूपों को बनाये नहीं रख सकते थे। यदि वे इस के प्रयास करते तो स्तोलिपिन प्रतिक्रियावाद के काल में बोल्शेविक पार्टी और उसकी कतारें रूस व इसके विशाल भूभाग में अकेले छापामार युद्ध लड़ रहे होते और मुजिक उन पर कौतुहल भरी निगाहें डाल रहे होते। बोल्शेविकों ने मनोगतवादी होने की गलती नहीं की, वे जनता की चेतना एवं मनःस्थिति (mood) के प्रति जागरूक बने रहे।

यहां जब हम संघर्ष के रूपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लेनिन की शिक्षाओं को दोहरा रहे हैं, तो हम इन शिक्षाओं के यांत्रिक पालन के कतई हिमायती नहीं हैं। मसलन संघर्ष के रूपों को ''गढ़ने'' के विरोध का यह अर्थ कतई नहीं निकाला जाना चाहिये कि कम्युनिस्ट पार्टी अपनी ओर से कभी भी संघर्ष व संगठन के नये रूप नहीं देगी, कि वह हमेशा ही जन-संघर्ष से इन रूपों की स्वतः स्फूर्त उत्पत्ति का इंतजार करेगी। कम्युनिस्ट पार्टी अपनी ओर से संगठन व संघर्ष के रूप दे सकती है, जैसा कि लेनिन व रूसी कम्युनिस्टों ने अक्टूबर 1917 में किया। यहां मुख्य बात यह है कि रूप जनता की चेतना के स्तर एवं मनःस्थिति (mood) के अनुरूप होने चाहिए।

क्या रूपों के चयन के सम्बन्ध में दीर्घकालिक लोक-युद्ध के शिक्षक माओ-त्से-तुंग का भी वही मत है जो लेनिन का था या फिर उन्होंने इस मामले में कम्युनिस्ट नीति में कुछ परिवर्तन किये? माओ कम्युनिस्ट गतिविधियों के लिये निर्देश देते हैं–

> ''.... जन समुदाय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये, उन्हें जन -समुदाय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप काम करना चाहिये। जन-समुदाय के लिये किये जाने वाले तमाम कार्यों का आरम्भ उसकी आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिये न कि किसी व्यक्ति की सदिच्छाओं के आधार पर। **ऐसा अक्सर देखने में आता है कि वस्तुगत रूप से तो जन-समुदाय के लिये किसी परिवर्तन की आवश्यकता है, लेकिन मनोगत रूप से वह इस आवश्यकता के प्रति अभी जागरूक नहीं हो पाया, इस परिवर्तन के लिये अभी तैयार अथवा संकल्पबद्ध नहीं हो पाया।** ऐसी स्थिति में हमें धीरज के साथ इंतजार करना चाहिये। हमें परिवर्तन तब तक नहीं लाना चाहिये जब तक हमारे कार्य के जरिये जन-समुदाय का अधिकांश भाग उक्त आवश्यकता के प्रति जागरूक न हो जाय तथा वह उसे कार्यान्वित करने के लिये तैयार और संकल्पबद्ध न हो जाय। अन्यथा हम जन-समुदाय से अलग हो जायेंगे। जब तक जन-समुदाय और जागरूक तैयार नहीं हो जाता तब तक कोई भी ऐसा काम जिसमें उसके शामिल होने की जरूरत है, महज एक खानापूरी करने के समान होगा तथा वह असफल हो जायेगा।
>
> .....यहां दो उसूल हैः पहला उसूल हैं जन-समुदाय की वास्तविक आवश्यकताएं, न कि हमारे द्वारा उसके लिये कल्पित आवश्यकताएं: तथा दूसरा उसूल है जन-समुदाय

की आकांक्षाएं, उसे अपना संकल्प खुद करना चाहिये न कि हमें उस पर अपना संकल्प लाद देना चाहिये।''

(माओ; संकलित रचनाएं, ग्रन्थ-3य पृष्ठ 334.335; विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पेकिड; जोर हमारा)

माओ की नजर में यह बात, जनता के बीच कम्युनिस्ट पार्टी के हर तरह के काम पर लागू होती है चाहे वह काम युद्ध हो या सांस्कृतिक/शैक्षणिक काम। संघर्ष और संगठन के रूपों के प्रति कम्युनिस्ट पहुंव में माओ ने कोई संशोधन नहीं किया, वे सच्चे लेनिनवादी थे।

यद्यपि संगठन व संघर्ष के रूपों के चयन के सम्बन्ध में माओ और लेनिन की पहुंच एक थी, यद्यपि चीन और रूस दोनों ही देशों की क्रांति जनवादी क्रांति की मंजिल में थी (रूस में फरवरी, 1917 की क्रांति के बाद यह मंजिल बदल गयी), यद्यपि दोनों ही देशों के जनवादी क्रांतियों को नेतृत्व वर्ग सचेत सर्वहारा दे रहा था। फिर भी लेनिन और माओ ने दोनों देशों की क्रांतियों के लिये अलग-अलग रास्ते (सामरिक-रणनीति) तय किये। ऐसा क्यों? माओ, चीनी क्रांति की सामरिक-रणनीति तय करते समय लेनिन के निष्कर्षो पर क्यों नहीं पहुंचे? क्यों माओ ने चीनी क्रांति के लिये आम -विद्रोह की सामरिक नीति का चयन नहीं किया?

III

चीनी क्रांति

1928 में माओ का विश्लेषण था कि चीन दुनिया का एक मात्र ऐसा देश है, जिसमें लाल-सत्त श्वेत-सत्त के साथ-साथ देश के कुछ इलाकों में कायम रह सकती है, अर्थात् एक मात्र ऐसा देश जिसमें कम्युनिस्ट आधार इलाके कायम कर सकते हैं। माओ इसकी सम्भावना न तो पूंजीवाद की दृष्टि से विकसित देशों में देखते थे, न ऐसे देशों में जिन्हें पूर्ण उपनिवेश बना दिया गया है। 1928 में माओ का यह विश्लेषण भी नहीं था कि हर अर्ध-उपनिवेश में कम्युनिस्ट आधार इलाके कायम करते हुए इलाकायी आधार पर सत्त दखल कर सकते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जरूर माओ ने इस बात की सम्भावना देखी थी कि पूर्व के कई देशों (जिनमें छोटे देश भी शामिल हैं) की जनता चीनी जनता की तरह आधार इलाके कायम करते हुए सत्त दखल कर सकती है। लेकिन माओ के मूल्यांकन में परिवर्तन का आधार भी चीनी क्रांति की विजय के उपरांत पैदा हुआ उत्साह नहीं था, बल्कि माओ साफ देख रहे थे कि विश्व युद्ध के दौरान पुराने शक्ति समीकरण बदल गये हैं और 'एक नयी विश्व परिस्थिति' अस्तित्व में आ चुकी है। कहीं किसी देश में कम्युनिस्ट इलाकायी आधार पर सत्त दखल कर सकते हैं या नहीं, दोनों ही बार (1928 में और उसके दो दशक बाद) माओ का मूल्यांकन ठोस वस्तुगत परिस्थितियों के विश्लेषण पर आधारित है। इस लेख के आगे के हिस्से में पहले हम माओ के दोनों मूल्यांकनों (एक विश्व युद्ध के पहले का मूल्यांकन और दूसरा विश्व युद्ध के बाद का मूल्यांकन) के भौतिक आधार की बारी-बारी से चर्चा करेंगे और फिर 21 वीं सदी की वर्तमान परिस्थिति में इस बात को समझने की कोशिश करेंगे कि भारत में दीर्घकालिक जन-युद्ध की गुंजाइश है या नहीं?

यदि माओ कि विभिन्न रचनाओं का अध्ययन किया जाये तो उनमें चीन की छह ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके समग्र संयोजन की बदौलत यह सम्भावना थी कि चीन में श्वेत सत्त की मौजूदगी के साथ-साथ लाल आधार इलाके कायम हो सकते थे। ये हैं-

1. चीन का असमान आर्थिक एवं राजनीतिक विकास
2. श्वेत सत्त के भीतर लगातर चलने वाला सशस्त्र संघर्ष
3. राष्ट्रव्यापी क्रांतिकारी स्थिति का निरंतर विकास
4. जनवादी क्रांति का प्रभाव
5. स्थायी लाल सेना की मौजूदगी
6. कम्युनिस्ट पार्टी का मजबूत संगठन एवं कृषि क्रांति

इन पर इसी क्रम में हम संक्षिप्त टिप्पणियां करेंगे।

चीन का विकास न केवल आर्थिक अर्थो में ही असमान था। वह राजनीतिक अर्थों में भी असमान था। आर्थिक तौर पर एक कमजोर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ-साथ एक अर्ध-सामंती अर्थव्यवस्था की प्रधानता थी। थोड़े से आधुनिक औद्योगिक और व्यापारिक नगरों के साथ-साथ गतिरोध के शिकार विशाल देहाती इलाके मौजूद थे। थोड़े से रेल, जल-यातायात साधनों तथा मोटर सड़कों के साथ-साथ बड़ी तादाद में गाड़ी-गड्डरों की लीकें और पगडंडियां जिनमें से बहुत सी ऐसी जो पैदल चलने वालों के लिये भी दुर्गम थीं। राजनीतिक परिदृश्य ऐसा कि केन्द्र सरकार पर बड़े-बड़े युद्ध सरदार काबिज थे। प्रांतों में छोटे युद्ध सरदार और इसी में अपने लिये जगह बनाती साम्राज्यवादी ताकतें, यानी कि राजनीतिक ढांचा विखंडित।

चीन का राजनीतिक ताना-बाना न केवल विखंडित था बल्कि उसके भीतर अन्तर कलह इस स्तर की थी कि युद्ध लगातार चलता रहता था। 1912 से चीनी शासक वर्ग के विभिन्न गुट आपस में लगातार युद्धरत थे। युद्ध के समाप्त होने की सम्भावनाएं भी न थी। कुछ वैसी स्थिति जैसी विगत दिनों में केवल अफगानिस्तान या सोमालिया जैसी जगहों पर देखने को मिली थी। ऐसे में शासक वर्ग एकजुट हो कर किसी केन्द्रीय नीति के तहत कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का दमन करने की स्थिति में नहीं थे।

उक्त दोनों कारकों की बदौलत चीन की एक असाधारण विशेषता यह थी कि चीन ऐसा नहीं था जहां लम्बे अन्तराल के बाद तीखे-घनीभूत संकट पैदा होते हों। उलटे चीन में लम्बे समय तक राष्ट्रव्यापी क्रांतिकारी संकट लगातार बना रहा, व्यवस्था किसी भी प्रकार से स्थायित्व नहीं ग्रहण कर पा रही थी। लोगों में बैचैनी थी और स्थानीय विद्रोह व बगावतें आम बात थीं। यह विशेषता 19 वीं सदी के अन्त से ही सामने आने लगी थीं।

डा. सुन यात सेन के नेतृत्व में हुई अपूर्ण जनवादी क्रांति ने चीन के जन-साधारण पर गहरी छाप छोड़ी थीं। उसने हुनान, क्वांगतुंग, हुपे एवं कियांग्सी प्रांतों के लोगों में नये समाज एवं नये जीवन के प्रति उम्मीदें जगायीं थी। वे इसके लिये संघर्षरत थे। सशक्त जन-संघर्षो ने क्रांतिकारी माहौल पैदा कर दिया था।

1924-27 के क्रांतिकारी संघर्ष ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को एक स्थायी लाल सेना प्रदान की थी। गुरिल्ला दस्ते एवं जन मिलिशिया इसकी मदद के लिये थे। माओ का आकलन है कि स्थायी लाल सेना के बिना भी दीर्घकालिक लोक-युद्ध का संचालन संभव नहीं था, भले ही मजदूर-किसान जनता कितनी ही सक्रिय क्यों न होती।

क्रांति का संयोजन करने के लिये और क्रांतिकारी वर्ग/तबकों को नेतृत्व प्रदान करने के लिये कम्युनिस्ट पार्टी का मजबूत संगठन मौजूद था। यह संगठन बहुत सूझ-बूझ के साथ क्रांतिकारी कृषि आंदोलन को चीनी क्रांति की धुरी के बतौर विकसित कर रहा था।

इन तमाम भौतिक कारकों के समग्र संयोजन के आधार पर माओ ने चीनी क्रांति के लिये दीर्घकालिक जन-युद्ध की परिकल्पना की । उन्हें समझ में आ रहा था कि इन भौतिक कारकों की अंतर्क्रिया से यह सम्भावना पैदा हो गयी है कि कम्युनिस्ट पार्टी लम्बे समय तक सैनिक संगठन और सशस्त्र संघर्ष में जन भागीदारी को सुनिश्चित कर सकती है, कि सैन्य संगठन, संगठन का मुख्य रूप और सशस्त्र संघर्ष, संघर्ष के मुख्य रूप समाज में स्वत: ही कम्युनिस्टों की कोशिशों से स्वतंत्र पहले से मौजूद हैं और आने वाले दिनों में लम्बे समय तक मौजूद रहेंगे। उस वक्त माओ को ऐसी असाधारण स्थिति दुनिया में और कहीं नहीं दिखाई पड़ती थी। ऐसे में स्वाभाविक ही था कि माओ, रूस के सर्वहारा नेतृत्व के तले जनवादी क्रांति के पथ का अनुसरण करने के बजाय चीन की जनवादी क्रांति के लिये एक बिलकुल भिन्न रास्ता चुनते। चीनी नव-जनवादी क्रांति का रास्ता कामिन्टर्न में अच्छे-खासे विवाद का विषय बना, लेकिन बाद में उसे सही माना गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक नयी विश्व परिस्थिति पैदा हो गयी थी। इस नयी विश्व परिस्थिति में माओ ने 1928 की अपनी राय बदली और यह बताया कि प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन के अधीन पूर्व के कई या सभी उपनिवेशों में भी दीर्घकालिक लोक-युद्ध का संचालन अब किया जा सकता है, इलाकायी आधार पर सत्त दखल किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत नयी विश्व परिस्थिति की ऐसी क्या विशेषताएं थी जिनके आधार पर द्वन्द्ववादी माओ ने यह सम्भावना देखी? नयी विश्व परिस्थिति में तीन अहम बातें थी जिन्होंने माओ के मूल्यांकन को बदला । वे हैं-

1. दूसरे विश्व युद्ध के समय पूर्व के अनेक उपनिवेश जो पहले बरतानिया, अमरीका, फ्रांस और नीदरलैण्ड के साम्राज्यवादी शासन में थे, जापानी साम्राज्यवादियों के कब्जे में आ गए। उन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में वहां के मजदूरों, किसानों, शहरी निम्न-पूंजीपति वर्ग के समुदाय और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के तत्वों ने बरतानवी, अमरीकी, फ्रांसीसी और डच साम्राज्यवाद के बीच के अन्तरविरोधों से लाभ उठाकर फासिस्ट आक्रमण के खिलाफ एक व्यापक संयुक्त मोर्चा कायम किया, जापान आक्रमण-विरोधी छापामार युद्ध चलाये। इस तरह युद्ध के पहले का वर्ग शक्ति संतुलन बदलने लगा। दूसरे विश्व युद्ध के अन्त में, जब जापानी साम्राज्यवाद को इन देशों से बाहर निकाला गया, तो अमरीकी, बरतानवी, फ्रांसीसी और डच साम्राज्यवादियों ने वहां फिर से अपना उपनिवेशवादी शासन कायम करने की कोशिश की। लेकिन जापानी-आक्रमण-विरोधी युद्ध में उपनिवेशों की जनता की चेतना में काफी इजाफा हो चुका था और उसने काफी बड़ी सैन्य शक्ति का निर्माण कर लिया था। वह फिर से वैसा ही जीवन बिताने के लिये तैयार न थी।

2. विश्व युद्ध में सोवियत संघ काफी बड़ी ताकत के रूप में उभरा । इतना ही नहीं, विश्व युद्ध के बाद जो नयी दुनिया उभरी उसमें सोवियत संघ अकेला समाजवादी देश नहीं रहा। नये

समाजवादी देशों का एक पूरा खेमा अस्तित्व में आ गया था। अमेरिका को छोड़कर बाकी साम्राज्यवादी शक्तियां कमजोर पड़ गयी थीं। दुनिया के बुनियादी अन्तरविरोधों में एक नया बुनियादी अन्तरविरोध– समाजवादी खेमे और साम्राज्यवादी खेमे के बीच का अन्तरविरोध– क्रियाशील हो चुका था। इस बुनियादी अन्तरविरोध की गति समाजवाद के पक्ष में और साम्राज्यवाद के विरोध में थी। साम्राज्यवाद को लगातार पीछे हटना पड़ रहा था।

3. चीनी क्रांति की विजय के परिणामस्वरूप दुनिया के एक बड़े भू-भाग में (दुनिया की सबसे ज्यादा आबादी वाले देश में) साम्राज्यवादी मोर्चा टूट गया था। इंडोनेशिया व भारतीय उप महाद्वीप में भी प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद की समाप्ति के कारण साम्राज्यवादी मोर्चा ढीला पड़ गया था। अफ्रीका और लातिन अमेरिका के कई अन्य देशों में भी स्थिति इसी ओर विकसित हो रही थी।

नई विश्व परिस्थिति में माओ ने जो नया आकलन किया वह सही था। यह आकलन दुनिया के सभी उपनिवेशों अथवा अर्ध-उपनिवेशों के लिये नहीं था, यह पूर्व के उपनिवेशों के लिये था। लाओस, कम्पूचिया और वियतनाम के मुक्ति संघर्षो ने इस नयी विश्व परिस्थिति का लाभ उठाया और सफलतापूर्वक दीर्घकालिक लोक-युद्ध को संचालित किया। बाद में इन देशों में यदि क्रांतियां असफल हुई तो उसका बड़ा कारण इन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की आन्तरिक कमजोरियां थीं। दीर्घकालिक लोक-युद्ध का माडल इन देशों के लिये गलत नहीं था। पथ के चुनाव की वजह से ये क्रांतियां विफल नहीं हुई।

परन्तु आज 21 वीं सदी की शुरूआत में विश्व परिस्थिति पुनः बदली हुयी है। वह अनुकूल से प्रतिकूल हुई है। ऐसे में बदली हुई नई परिस्थिति के अनुरूप कम्युनिस्टों को अपनी सामरिक नीतियां बनानी होंगी। यदि वे परिस्थिति के अनुरूप संघर्ष व संगठन के रूपों का चयन नहीं करते तो वे जड़-सूत्रवादी होने की गलती कर रहे होंगे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की परिस्थिति से 21 वीं सदी के शुरूआत की वर्तमान विश्व परिस्थिति किस मायने में भिन्न है?

आज दुनिया में समाजवादी खेमे और साम्राज्यवादी खेमे के बीच का बुनियादी अन्तरविरोध क्रियाशील नहीं है। और न ही समाजवादी देशों और साम्राज्यवाद के बीच का अन्तरविरोध क्रियाशील है। ऐसा इसलिये कि सोवियत संघ, पूर्वी यूरोप और चीन में सर्वहारा की राजसत्ताओं पर पूंजीपति वर्ग का कब्जा हो चुका है। ये देश अपने विपरीत में बदल चुके हैं। क्रांतियों की मदद करने वाले देशों से क्रांतियों का विरोध करने वाले देशों में बदल चुके हैं।

पिछली सदी में '90 के दशक में सोवियत संघ के विखंडन के बाद अन्तर साम्राज्यवादी अन्तरविरोध की तीक्ष्णता भी कम हुई है और इस कारण अभी की क्रांतियां साम्राज्यवादियों के बीच के अन्तरविरोध से वैसे लाभान्वित नहीं हो सकती जैसे '70 व '80 के दशक में लाभान्वित हो रही थीं।

तीसरी दुनिया के देशों में पिछली आधी शताब्दी के दौरान एक हद तक का पूंजीवादी विकास हुआ है। यहां सम्पर्क एवं संचार के साधनों में वृद्धि हुई है। इनमें से अनेक देशों की राजसत्त का सुदृढ़ीकरण हुआ, केन्द्रीकरण बढ़ा है। पूंजीवादी विकास के साथ इन देशों के शासक वर्गो ने समाज में अपनो आधारों का विस्तार किया है, अपने आधिपत्य (hegemony) का विस्तार किया है।

इन प्रतिकूल कारकों के अलावा 21 वीं सदी की विश्व परिस्थिति में एक महत्वपूर्ण अनुकूल कारक यह है कि साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं का संकट गहरा रहा है। विगत वर्षों में इन देशों के लोग एक लम्बी खामोशी के बाद पुनः प्रदर्शनों एवं संघर्षों की ओर मुखातिब हो रहे हैं। इन संघर्षों का एक बहुत सकारात्मक पक्ष इनके अन्तर्राष्ट्रीय सरोकार हैं।

इस नयी विश्व परिस्थिति में तीसरी दुनिया के देशों के लिये किसी आम सामाजिक नीति की रूप रेखा निरूपति करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। इस लेख का उद्देश्य, भारतीय क्रांति के पथ के सवाल को तय करने के संदर्भ (और उसके प्रति सही पहुंच) को परिभाषित करना हैं।

IV

क्या दीर्घकालिक लोक-युद्ध के रास्ते से होकर भारतीय क्रांति आगे बढ़ पायेगी?

1967 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी पत्रिकाओं पीकिङ रिव्यू और पीपुल्स डेली में 'भारत में वसंत का वज्रनाद' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में भारत को अर्ध-सामंती अर्ध-औपनिवेशिक समाज बताया गया। इस लेख में भारतीय क्रांति का रास्ता भी बताया गया । लेख साफ कहता है कि भारतीय क्रांति दीर्घकालिक जन-युद्ध के रास्ते से होकर गुजरेगी, इसमें मुक्त आधार क्षेत्रों की स्थापना करनी होगी और शहरों को गांव से घेरना होगा। क्रांतिकारी कृषि आंदोलन पर आधारित क्रांति की बातें भी लेख में मौजूद हैं। बाद में 'लोक-युद्ध की विजय अमर रहे' शीर्षक से लेख भी चीन से प्रकाशित हुआ, जिसके लेखक लिन प्याओ थे। इस लेख में भी उक्त सूत्रीकरण दोहराये गये। अतः इस बात में कोई विवाद नहीं हो सकता कि भारतीय क्रांति के रास्ते के बारे में भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को क्या सलाह थी।

नक्सलबाड़ी किसान उभार के बाद भारतीय कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के दो प्रतिनिधिमंडल चीनी कामरेडों से राय-मशविरे के लिये चीन भी गये। पहले प्रतिनिधिमंडल में कानु सान्याल थे और दूसरे में सौरेन बसु। तमाम राय-मशविरे के बाद भारत लौटने से पहले कानु सान्याल की भेंट माओ-त्से-तुङ. से भी हुई। बातचीत के दौरान माओ ने कानु सान्याल को एक महत्वपूर्ण सलाह यह दी कि चीन में रहते हुए भारतीय क्रांति की रणनीति/कार्यनीति सम्बन्धी जो भी बातें चीनी कामरेडों से हुई हैं उन्हें भारत के क्रांतिकारी सिर्फ संदर्भ सामग्री के बतौर ग्रहण करें। कि अपने देश के ठोस हालत के सही विश्लेषण के आधार पर ही भारतीय कम्युनिस्ट अपनी गतिविधियों को संचालित करें। ऐसे ही सोरेन बसु को भी चाऊ-एन-लाई ने स्पष्ट किया कि माओ का प्राधिकार चीन की पार्टी तक सीमित है। उन्होंने स्पष्ट किया कि यह मत केवल उनका ही नहीं, यह माओ की भी अवस्थिति है। उन्होंने साफ बात की कि माओ भारतीय पार्टी के चेयरमेन नहीं हैं। भारतीय कम्युनिस्टों की रिपोर्टों का अध्ययन करने के बाद चाऊ-एन-लाई ने यह भी बताया कि अब तक भारत का सशस्त्र संघर्ष जिस तरीके से संचालित किया गया है वह जन-युद्ध नहीं है, कि व्यक्तिगत सफाये की लाइन गलत है।

अफसोस यह कि भारत की क्रांति के लिये एक बिरादर पार्टी ओर से जो सलाहें मात्र थी, उन्हें भारत के क्रांतिकारियों ने जड़ सिद्धान्त बना दिया। अपने देश की ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करके अपने देश के लिये क्रांति की लाइन निकालने का श्रम साध्य काम करने से भारत के क्रांतिकारियों का बड़ा हिस्सा आज तक बचता आया है। ऐसा व्यवहार किसी भी देश के क्रांतिकारियों के लिये अक्षम्य है। यदि भारत की क्रांति को विजयी होना है तो हमें देर-सवेर अपने देश के ठोस हालात के अनुरूप लाइन निकालनी ही पड़ेगी। यह हो सकता है कि भारतीय क्रांति के विकास की किसी बहुत आगे की मंजिल में स्थितियों नया व अप्रत्याशित मोड़ ले लें कि हमें अपनी सामरिक रणनीति पूरी तरह से बदलनी पड़ जाये लेकिन आज का हमारा प्रस्थान बिन्दु आज के ठोस हालात ही होने चाहिये। इन्हीं के सम्भावित विकास पर हमारी क्रांति की सामरिक रणनीति आधारित की जानी चाहिये। वर्तमान भारत के ठोस हालात एवं इन का संभावित विकास यह इंगित नहीं करता है कि दीर्घ- कालिक लोक-युद्ध की रणनीति भारत में कारगर हो पायेगी। इसके कई कारण हैं।

यह सही है कि भारत एक विशाल मुल्क है। इस में जंगल, पहाड़, नदियों, समुद्र ऐसी कई प्रकार की भौगोलिक स्थितियां हैं जिनका सैनिक महत्व है। ये क्रांतिकारियों के छिपने, घात लगाने, भाग जाने, मोर्चेबन्दी इत्यादि में सहायक हैं। भारत के पास एक विशाल ग्रामीण अंचल है। इस मामले में भारत चीन से मिलता-जुलता है। लेकिन इस मामले में भारत रूस से भी मिलता-जुलता है। और रूस के क्रांतिकारियों ने सत्त दखल के अपने प्रयासों में इन भौगोलिक 'सुविधाओं' का कतई लाभ उठाने की कोशिशें नहीं कीं । बोल्शेविकों ने शहरी क्षेत्रों को अपनी गतिविधियों का मुख्य गढ़ बनाया । इसके लिये बोल्शेविकों ने अति-गोपनीय पार्टी बनाने की 'असुविधा' झेली।

चीन की तरह भारत का भी असमान आर्थिक विकास हो रहा है (हालांकि असमानता की प्रकृति वैसी नहीं है, जैसी चीन में थी। अर्थव्यवस्था की चर्चा हम आगे करेंगे।) लेकिन भारत के राजनीतिक ताने-बाने में न तो चीन जैसी असमानता और न विखंडन है। पिछली आधी शताब्दी में जो राजनीतिक तंत्र अस्तित्व में आया है उसकी खासियत समरूपता एवं केन्द्रीयता हैं। पूरे देश में एक समरूप प्रशासनिक तंत्र है, एक समरूप न्यायिक ढांचा है, पंचायतों, म्युनिसिपलटियों से लेकर विधान सभाओं-संसद तक एक समरूप वैधानिक तंत्र है। इस पूरे ताने-बाने में भी प्रमुख चीज केन्द्रीयता है न कि संघात्मकता। इसके अलावा रेल-लाइनों, सड़कों, संचार साधनों का आधुनिक ढांचा अस्तित्व में आ चुका है। ऐसे में शासक वर्ग बहुत कम समय में, भारी संख्या में अपनी प्रशिक्षित सेना देश के किसी भी इलाके में संकेन्द्रित कर सकता है। इस मामले में भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिये वैसी अनुकूल स्थिति नहीं है जैसी चीन, लाओस, वियतनाम के कम्युनिस्टों को उपलब्ध थी। इस मामले में भारत के कम्युनिस्टों के समक्ष जारकालीन रूस से भी बीहड़ चुनौती है। भारत की राजसत्त जारकालीन रूस की राजसत्त से ज्यादा आधुनिक एवं सुगठित है। इसे टुकड़े-टुकड़ों में हराने की नीति कारगर नहीं हो पायेगी। तीव्र व घनीभूत संकट के वक्त इसे एक संकेन्द्रित एवं आकस्मिक आक्रमण के द्वारा चित्त कर देने की नीति ही ज्यादा कारगर होगी।

भारत में चीन की तरह श्वेत शासन व्यवस्था के भीतर निरंतर चलने वाले युद्ध जैसी कोई चीज नहीं है। पिछली आधी शताब्दी में भारत के विभिन्न हिस्सों में राजसत्त के खिलाफ बगावतें तो होती रही हैं, गुरिल्ला युद्ध लगातार चलते रहे हैं लेकिन शासक वर्ग के आपसी मतभेद ऐसे नहीं रहे हैं कि शासक वर्ग के विभिन्न हिस्से आपस में सशस्त्र संघर्ष चला रहे हों। भारत में युद्ध सरदारी जैसी कोई परिघटना नहीं है। भारत में राजनीतिक दल अपने गुंडे-मवाली तो पालते है लेकिन उनके

पास सशस्त्र सेनाएं नहीं हैं। बिहार की रणवीर/सनलाइट सेनाएं भी चीन या अफगानिस्तान के युद्ध सरदारों की सेनाओं जैसी चीजें नहीं हैं। इनका चरित्र हत्यारे-गिरोह भर का है। समग्रता में भारत में वैसी सामरिक उथल-पुथल नही है जैसी चीन में थी। भारत में वैसा कोई निरंतर राष्ट्रव्यापी राजनीतिक संकट नहीं है जैसा चीन में था। भारत में समय-समय पर हल्के एवं तीखे राजनैतिक संकट तो पैदा होते रहते हैं लेकिन इनका चिरंतन चरित्र नहीं है। यहां शासक वर्ग की राजसत्त में स्थायित्व है और अब तक उत्पन्न अल्पकालिक राजनैतिक संकटों का भी समाधान वह अपने संविधान के दायरे में करने में सफल रहा है। यहां 1950 से एक ही संविधान चला आ रहा है जिसमें मोटा-मोटी आम राय के आधार पर शासक वर्ग अपनी आश्यकता अनुसार फेर-बदल करता रहा है। ऐसी स्थिति में भारतीय जनता के बीच अच्छी-खासी मात्रा में कानूनी एवं संवैधानिक विभ्रम मौजूद हैं। जनता के बीच इन्हें दूर करने का कार्यभार बड़ा काम है। चीन के क्रांतिकारियों के समक्ष जो स्थिति थी उससे लगभग उलटे यहां राजसत्त के स्थायित्व से निपटने का कार्यभार भारत के क्रांतिकारियों के सामने है।

चीन में डा. सुन-यात सेन के नेतृत्व में जनवादी क्रांति की शुरूआत हुई थी और वह एक हद तक आगे भी बड़ी थी। उसके प्रभाव समाज की चेतना में बहुत स्पष्ट थे। माओ बहुत साफ तौर पर ऐसे प्रांतों का जिक्र करते हैं जहां यह प्रभाव है और दूसरे वे जहां यह प्रभाव नहीं है। चीन की जनवादी क्रांति ने बुर्जुआ के नेतृत्व में ही सशस्त्र रूप अखतियार कर लिया था। भारत में बुर्जुआ के नेतृत्व में कोई अपूर्ण जनवादी क्रांति नहीं हुई। यहां जो भी सीमित जनवाद अस्तित्व में आया है वह बुर्जुआ सुधारवाद के झंडे तले आया है।

बुर्जुआ राजनीतिक सुधारों एवं पूंजीवाद के विकास की अहमियत यह है कि इस सबसे भारत में क्रांति की मंजिल बदल गयी है। भारतीय क्रांति अब नव जनवादी मंजिल में नहीं है। वह समाजवादी मंजिल में दाखिल हो चुकी है। इस परिवर्तन का एक नकारात्मक पक्ष यह है कि इसने समाज में बुर्जुआ-जनवाद के बारे में कई भ्रम पैदा किये हैं। ये भ्रम क्रांति के विकास को अवरूद्ध करने में अच्छी-खासी भूमिका अदा करते हैं। भौगोलिक संदर्भो में आज भारत में राजनीतिक चेतना के प्रांत वही हैं जहां कम्युनिस्ट लम्बे समय से राजनीतिक प्रचार चलाते आये हैं।

1927.28 में माओ जब मुक्त आधार क्षेत्रों के निर्माण एवं इलाके वार सत्त दखल की रणनीति तय कर रहे थे तब उनके पास केवल गुरिल्ला दस्ते ही नहीं थे, उनकी कमान में एक स्थायी लाल सेना थी । यह सेना 1924.27 के दौरान बुर्जुआ-जनवादी क्रांति को आगे बढ़ाने के लिये किये गये गृह-युद्ध की उपज थी। च्यांग-काई-शेक की गद्दारी के बाद राष्ट्रीय सेना की अनेक टुकिड़यां चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की कमान में आ गयी थीं। जिस तरह से गुरिल्ला दस्तों से गुरिल्ला सेना और फिर गुरिल्ला सेना से स्थायी जन-सेना बनाने की कोशिशें पिछले कई दशकों से भारत में की जा रही हैं, चीनी लाल सेना की उत्पत्ति ऐसे नहीं हुई थी। उसके विस्तार में जो स्थितियां सहायक थीं। उनका जिक्र हम इस लेख के पिछले उप-खंड में कर चुके हैं।

एक बहुत ही बुनियादी मामले में चीन की स्थिति और भारत की स्थिति में अंतर है। 1949 के पहले के चीन के पूंजीवादी विकास में और 21 वीं सदी के भारत के पूंजीवादी विकास में जमीन-आसमान का अन्तर है। भारत में अनेक बड़े-बड़े आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र व व्यावसायिक महानगर ही अस्तित्व में नहीं आये हैं, यहां की कृषि में भी पूंजीवाद की पैठ हो गयी है और वह लगातार आगे बढ़ रही है। इस परिवर्तन ने एक ओर समाज की वर्गीय संरचना में अहम् परिवर्तन

किये हैं। दूसरी ओर इसके कारण क्रांति के प्रति विभिन्न वर्गों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ रहा है। सबसे अहम् परिवर्तन ये है कि भारतीय समाज में सर्वहारा वर्ग (औद्योगिक, शहरी व ग्रामीण सभी) के आकार को इस परिवर्तन ने बहुत बड़ा दिया है। इससे, भारतीय क्रांति के सर्वहारा अन्तर्य और चीन की क्रांति के सर्वहारा अन्तर्य (proletarian content) में गुणात्मक परिवर्तन आ चुके है। इसके साथ-साथ दूसरी ओर कृषि में पूंजीवादी विकास के चलते कुलकों की आकांक्षाऐं पूरी हो रही हैं, वे भारतीय देहात के प्रभुत्वशाली वर्ग के तौर पर उभरे हैं और अब इन किसानों की भारतीय क्रांति में कोई दिलचस्पी नहीं है उलटे वे इसके विरोधी हो चुके हैं। ऐसे में क्रांतिकारी कृषि आंदोलन के चरित्र में महत्वपूर्ण अन्तर आ गया है, यह सम्पूर्ण किसान समुदाय का आंदोलन नहीं रह गया है और इसकी मांगे भी बदल गयी हैं।

दूसरे किसान समुदाय में, पूंजीवादी विकास की बदौलत हुए ध्रुवीकरण के कारण भारतीय देहात में ग्रामीण सर्वहाराओं की तादाद में वृद्धि के साथ-साथ अर्ध-सर्वहारा भी भारी तादाद में अस्तित्व में आ गये हैं। इस परिवर्तन के कारण भारत के देहात में होने वाले संघर्षों की लामबन्दी अब मूलत: किसान समुदाय की मांगों के इर्द-गिर्द ही नहीं होगी, यहां सर्वहारा वर्ग अपने नारे उछालेगा और इनके इर्द-गिर्द भी लामबन्दी होगी। अर्थात्मजदूर-किसान संश्रय के चरित्र में भी परिवर्तन आ गया हैं। ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तनों के कारण आज क्रांतिकारी कृषि आंदोलन भारतीय क्रांति की धुरी (axis) नहीं है। दीर्घकालिक लोक-युद्ध के संचालन के लिये भौतिक परिस्थिति इस परिवर्तन (समग्र समाज के पूंजीवादी विकास) के कारण एक बहुत ही बुनियादी अर्थ में बदल गयी है। समाज के पूंजीवादी विकास ने क्रांतिकारी युद्धों को रणनीतिक तौर पर त्वरित निर्णय के युद्धों (war of quick decision) में बदल दिया है।

चीन से भारतीय क्रांति की एक और वस्तुगत स्थिति में अन्तर है। भारत में आज कम्युनिस्ट आंदोलन एक केन्द्र के तहत संगठित नहीं है जबकि चीन में एक एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी क्रांति का नेतृत्व कर रही थी। परन्तु इस अन्तर से भारतीय क्रांति की सामरिक रणनीति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। चाहे क्रांति दीर्घकालिक लोक-युद्ध के रास्ते करनी हो या आम -विद्रोह के रास्ते, दोनों ही स्थितियों में सत्त दखल की पूर्व शर्त कम्युनिस्ट पार्टी का मजबूत केन्द्रीकृत संगठन बनता है। यह समस्या हर हालत में भारतीय क्रांति को हल करनी होगी। हां, एक मायने में भारतीय क्रांति के लिये कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की स्थितियां चीन से काफी भिन्न हैं। आज जब भारत की 40 करोड़ कामगार आबादी में मजदूरों की संख्या 20 करोड़ (जिन में से 9 करोड़ कृषि कार्यो के बाहर हैं) हो गयी है तब भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिये भौतिक स्थितियां चीन से काफी उन्नत हैं। इसलिये मजदूर वर्ग की पार्टी के निर्माण के लिये कम्युनिस्टों को अपने काम को रूस के बोल्शेविकों की तरह देहात के बाहर केन्द्रित करना होगा। दीर्घकालिक लोक-युद्ध की अवधारणा इसमें बाधक है क्यों कि उस रणनीति के तहत कम्युनिस्ट अपनी पार्टी के अधिकांश कार्यकर्ताओं को देहात में अवस्थित करते हैं। पार्टी निर्माण के शुरूआती दौर में तो यह नीति और भी गलत है।

यहां जब हम दीर्घकालिक लोक-युद्ध के रास्ते से इंकार कर रहे हैं और आम-विद्रोह के रास्ते की पैरोकारी कर रहे हैं तो हमारा मानना है कि रास्ते का चयन वर्तमान ठोस परिस्थितियों के आधार पर होना चाहिये। अटकलबाजियों के आधार पर इतने महत्वपूर्ण सवाल को तय करना कहीं से भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली नहीं है। इस महत्वपूर्ण सवाल के प्रति यह पहुंच कि 'आने वाले दिनों में जब व्यवस्था का संकट तीखा होगा तो भारत की केन्द्रीकृत राजसत्त विखण्डित हो जायेगी

और तब दीर्घकालिक संघर्ष चलाने की स्थितियां पैदा हो जायेंगी' एक गलत भाववादी पहुंच है। यह द्वन्द्ववादियों की तरह भौतिक परिस्थिति के सम्भावित विकास पर अपनी रणनीति को आधारित करने के बजाय पुरानी क्रांतियों के भूत से चिपके रहने की भीरू प्रवृत्ति है। इतिहास हम से अपेक्षा रखता है कि हम माओ कि तरह स्थापित जड़सूत्रों को चुनौती दें चाहे इसके लिये कामिंटर्न के प्राधिकार को ही नकारना क्यों न पड़े। क्रांति एक विज्ञान है, विज्ञान में अटकलबाजियों के लिये कोई जगह नहीं है।

यहां एक महत्वपूर्ण सवाल यह उठ खड़ा होता है कि अगर भारतीय क्रांति की विजय का रास्ता दीर्घकालिक जन–युद्ध न होकर आम–विद्रोह है तो क्या भारतीय क्रांति का रास्ता वैसा ही है जैसा विकसित पश्चिमी पूंजीवादी देशों की क्रांतियों का रास्ता है? इस प्रश्न का उत्तर हम नहीं में देते हैं। आम–विद्रोह होने के बावजूद भारतीय क्रांति का रास्ता पश्चिमी पूंजीवादी देशों की क्रांतियों से एक महत्वपूर्ण मायने में भिन्न है। वह यह कि पश्चिमी पूंजीवादी समाजों में जनवाद की जड़ें और आधार काफी मजबूत हैं। इस कारण वहां इस बात की गुंजाइश है कि लम्बे समय तक क्रांति का विकास शांतिपूर्ण स्थितियों में होता रहे। लेकिन भारत एक ऐसा देश है जिसमें जनवादी क्रांति हुई ही नहीं है। यहां जनवादी क्रांति के बिना प्रतिक्रियावादी सुधारों की बदौलत पूंजीवाद का विकास हुआ है। ऐसे में भारत में जनवाद की वैसी स्थितियां नहीं है जैसी पश्चिम में। इस कारण यहां क्रांतिकारी आंदोलन को अपने विकास के लिये लम्बे समय तक शांतिपूर्ण स्थितियां नहीं मिलेंगी। यहां प्रतिक्रांति बहुत जल्द क्रांतिकारी आंदोलन का दमन करने लगती है। ऐसे में कम्युनिस्ट पार्टी के लिये खुला काम करने की स्थितियां अत्यन्त सीमित हैं। उसे क्रांति करने के लिये बहुत मजबूत और विश्वसनीय गुप्त पार्टी संगठन ही नहीं बल्कि भारत के क्रांतिकारी आंदोलन के दौरान गुप्त जनसंगठनों के निर्माण की भी जरूरत पड़ेगी। इस मायने में आम–विद्रोह का रास्ता होते हुए भी भारतीय क्रांति का रास्ता, पश्चिमी देशों की क्रांति के रास्ते से काफी भिन्न है।

ऐसे ही एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भारतीय क्रांति में गुरिल्ला युद्ध की कितनी सम्भवानाएं हैं? आज कम्युनिस्ट क्रांतिकारी जो गुरिल्ला युद्ध चला रहे हैं उनका कैसे मूल्यांकन किया जाये?

इस मामले में पहली बात यह है कि भारत में देहाती और शहरी दोनों किस्म के गुरिल्ला युद्ध की सम्भावनाएं हैं। वर्तमान भारत में उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के आंदोलन के कार्यकर्ता और कम्युनिस्ट क्रांतिकारी दोनों तरह की शक्तियां गुरिल्ला युद्ध चला रही हैं, और वे इन युद्धों को दशकों तक जारी रखने में सफल रहे हैं। इतना ही नहीं एक तरह के छापामार युद्ध की सम्भावनाएं विकसित पूंजीवादी देशों में भी होती हैं। 20 वीं सदी के अन्त तक आयरिश मुक्ति के योद्धा आयरलैण्ड में छापामार युद्ध लड़ते रहे हैं। मजबूत केन्द्रीकृत राजसत्तयें ऐसे न्यायसंगत युद्धों को एक दायरे में एवं एक स्तर पर सीमित तो कर सकती हैं लेकिन वे इन्हें समाप्त नहीं कर सकतीं ।

ऐसे न्यायसंगत युद्धों को एक हद तक जनसमर्थन भी प्राप्त होता है। ये युद्ध केवल समर्पित कार्यकर्ताओं के आदर्शों व कुरबानियों के सहारे ही जारी नहीं रहते। गुरिल्ला योद्धाओं को जनता के बीच पनाह एवं समर्थन हासिल होता है। गुरिल्ला संघर्ष के लिये जनता के बीच से नये योद्धा भी मिलते हैं। यह इसलिये क्योंकि जनता की दूरगामी मांगों के लिये संघर्ष करने के साथ गुरिल्ला योद्धा जनता की कुछ फौरी समस्याओं को भी हल करते हैं। हमारे देश के जिन इलाकों में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी दशकों से छापामार युद्ध लड़ रहे हैं वहां इस संघर्ष के कारण दबे–कुचले लोगों

विशेषकर निम्न जातियों के सदस्यों एवं आदिवासियों के स्वाभिमान की समस्या काफी हद तक हल होती है। यौन-शोषण कम हो जाता है। वेट्ठी/बेगार करवाने के लिये दबाव कम हो जाता है। इस संघर्ष से मजदूरी बढ़ाने के संघर्ष को मदद मिलती है, इत्यादि। चूंकि गुरिल्ला युद्ध से जनता की फौरी समस्याएं एक हद तक हल होती हैं, इसलिये देश के कई हिस्सों में गुरिल्ला युद्ध दशकों तक चल सकता है। अत: गुरिल्ला युद्ध की सम्भावनाओं पर तर्क-वितर्क का कोई औचित्य नहीं है।

यहां जिस चीज पर ठंडे दिमाग से सोचने-समझने की जरूरत है वह यह कि यह गुरिल्ला युद्ध जनता की दूरगामी जरूरत (क्रांति) के लिये कितना उपयोगी है? इस मामले में दो मुद्दों पर विचार करने की जरूरत है। वे हैं कि क्या कम्युनिस्ट क्रांतिकारी गुरिल्ला युद्ध संचालित करते हुए इसकी मदद से क्रांतिकारी कृषि संघर्ष को विकसित कर पा रहे हैं या नहीं? दूसरा यह कि क्या गुरिल्ला युद्ध को जनता के सीमित समर्थन से आगे बढ़कर कम्युनिस्ट संघर्ष के इस रूप में जन-भागीदारी पैदा कर पा रहे हैं? दूसरे प्रश्न का सकारात्मक उत्तर पहले प्रश्न के सकारात्मक उत्तर के साथ जुड़ा हुआ है।

छापामार युद्ध के क्षेत्रों में कृषि संघर्ष के लिये कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का केन्द्रीय नारा ''जमीन जोतने वाले की'' किस हद तक लागू हो पा रहा है। यदि यह लागू हो रहा होता है तो कृषि संघर्ष क्रांतिकारी संदर्भ ग्रहण करता है और तब छापामार युद्ध में भी जन-भागीदारी होने लगती है। कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन के अनुभव यह बता रहे हैं कि इतनी शहादतों व कुबार्नियों के बावजूद यह नारा व्यवहार में प्रभावी नहीं हो पा रहा है और परिणामस्वरूप गुरिल्ला युद्ध में जन-भागीदारी नहीं हो पा रही है। अन्य मुद्दों- मसलन मजदूरी,सामाजिक उत्पीड़न, इत्यादि- पर गोलबन्दी तब भी अपेक्षाकृत सफल हो जा रही है। जब जमीन के लिये क्रांतिकारी कृषि आंदोलन विकसित नहीं हो पा रहा है और वह भारतीय क्रांति की धुरी नहीं बन पा रहा है तब हमें संजीदगी से वस्तुगत परिस्थिति का नये सिरे से आकलन करना चाहिये। ऐसा करने पर सम्भावनाओं के बावजूद गुरिल्ला युद्ध की सीमाएं हमारे लिये उजागर होने लगती है। हमें समझ में आता है यदि सैन्य संगठन को संगठन का मुख्य रूप और सशस्त्र संघर्ष को हम संघर्ष का मुख्य रूप न बना कर जनसंगठनों एवं राजनीतिक संघर्ष को प्रमुखता दें तो हम जनता की दूरगामी जरूरत (क्रांति) के लिये ज्यादा उपयोगी काम कर रहे होंगे।

उक्त बातें कह कर हम छापामार युद्ध को संघर्ष के एक रूप के बतौर नकार नहीं रहे हैं। यहां हम भारतीय क्रांति के वर्तमान चरण में इसे संघर्ष का मुख्य रूप बनाने की मुखालफत कर रहे हैं। भविष्य में जब यह रूप राजनीतिक संषर्ष के आगे बढ़ने पर जनता के बीच से स्वयं पैदा होगा तब कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को इसका सामान्यीकरण करना होगा और इसे संगठित करना होगा। वर्तमान स्थिति में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इसे अपनी ओर से जन-संघर्ष पर आरोपित कर रहे हैं।

V

नेपाल का उदाहरण

भारत में दीर्घकालिक लोक-युद्ध के पैरोकारों की ओर से एक सवाल अक्सर उठता है कि यदि नेपाल में दीर्घकालिक लोक-युद्ध की रणनीति व्यवहार में सही साबित हो रही है तो वह भारत

में भी क्यों सही साबित नहीं होगी? कि भारत के कम्युनिस्टों के हालात से नेपाल के हालात काफी मिलते-जुलते हैं, मसलन 21 वीं सदी के आरम्भ की प्रतिकूल विश्व परिस्थितियां, नेपाल के कम्युनिस्ट आंदोलन का बिखराव, कम्युनिस्ट पार्टी के पास जन-युद्ध शुरू करने के पहले लाल सेना का न होना इत्यादि; लेकिन इसके बावजूद यदि नेपाल के कम्युनिस्ट दीर्घकालिक जन-युद्ध के रास्ते आगे बढ़ सकते हैं तो भारत के कम्युनिस्ट क्यों नहीं?

नेपाल का उदाहरण, भारतीय क्रांति के रास्ते की दिक्कतों को समझने में बहुत शिक्षाप्रद है इसलिये इस पर थोड़ी चर्चा आवश्यक है। नेपाल में 13 फरवरी, 1996 को नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) द्वारा जनयुद्ध के पहले की वस्तुगत स्थितियां भारत से मिलती-जुलती होने के बजाय भारत से काफी भिन्न थीं। इन्हें भारत जैसा बताना मुद्दे की सतही समझ की अभिव्यक्ति है।

नेपाल और भारत की क्रांतियों के लिये जो चीज़ एक जैसी है वह 20 वीं सदी के अन्त एवं 21 वीं सदी के आरम्भ की विश्व परिस्थितियां। इनमें दुनिया की क्रांतिकारी एवं मुक्तिकामी शक्तियां कमजोर हैं और प्रतिक्रांति हावी है। दूसरी यह कि भौगोलिक अर्थों में भारत की तरह नेपाल में भी क्रांतिकारी योद्धाओं के लिए छिपने, भागने, मोर्चा लेने , पीछे हटने, घात लगाने इत्यादि के लिये अच्छी स्थितियां हैं। परन्तु नेपाली समाज की स्थितियों भारत जैसी नहीं हैं। नेपाली समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियां नव-जनवादी क्रांति के लिये उपयुक्त हैं। इन्हें अनदेखा करके नेपाली क्रांति के बारे में कोई भी विश्लेषण सही नहीं हो सकता है।

नेपाल की राजसत्त का चरित्र भारत की राजसत्त जैसा नहीं है। वह एक मजबूत राजसत्त नहीं है और राजा के इर्द-गिर्द केन्द्रित होने के कारण उसका जनाधार कमजोर है। साथ ही नेपाली समाज में राजसत्त के प्रति जनता में वैसे विभ्रम नहीं हैं जैसे कि भारत में संसदीय तंत्र के प्रति। दूसरी बात यह कि नेपाल में संचार साधन कमजोर हैं एवं यातायात साधन अत्यंत पिछड़े हुए। इस कारण शाही सेना की गतिशीलता एवं भारतीय सेना की गतिशीलता में गुणात्मक अन्तर है। ऐसे में शाही सेना के खिलाफ लड़ने वाले कमजोर शत्रु भी उसे अच्छा-खासा परेशान कर सकते हैं और इस प्रक्रिया में अपनी शक्ति बटोरते हुए आगे बढ़ सकते हैं। इस हालत में शाही सेना के बस में नहीं है कि वह अपने शत्रु को रणनीतिक अर्थों में त्वरित निर्णय की लड़ाई के लिये मजबूर कर सके।

परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि नेपाल में जन-युद्ध एक मजबूत एवं व्यापक राजनीतिक संघर्ष की नींव पर खड़ा हुआ है। इस मामले में नेपाल की स्थिति भारत से नितांत भिन्न है।

पिछले दो दशक नेपाली जनता के लिये राजनीतिक उदासीनता के दशक नहीं थे। ये राजनीतिक सरगर्मियों के दशक थे। श80 के दशक के अन्त का देशव्यापी राजनीतिक संघर्ष 1990 आते-आते इस स्तर पर पहुंच चुका था कि राजा को पीछे हटना पड़ा। पार्टी-विहीन पंचायती राज समाप्त करके बहु-पार्टी जनतांत्रिक सुधार करने पड़े। ये सुधार जनता को बेहद सीमित जनवादी अधिकार प्रदान करते थे लेकिन 1990 में राजा का इनके लिये तैयार होना ही उस समय के जन-संघर्ष के स्तर और व्यापकता को दर्शाता हैं। जिस सत्त विरोधी संघर्ष में नेपाल की व्यापक जनता दिलचस्पी ले रही थी उसमें कम्युनिस्ट कहां थे? भांत-भांत के कम्युनिस्ट (क्रांतिकारी, ढुलमुल, संशोधनवादी) नेपाली कांग्रेस के समानांतर इस जनवादी संघर्ष के मुख्य घटक थे। या दूसरे शब्दों में कम्युनिस्टों की राष्ट्रव्यापी साख थी। बाद के चुनावों में पाया गया कि वामपंथी पार्टियों का समग्र वोट अक्सर ही नेपाली कांग्रेस से ज्यादा रहता था, कांग्रेस यदि अधिक सीटें जीतती थी तो इसलिये

कि वामपंथी प्रत्याशी एक दूसरे के वोट काटते थे। भारत में वामपंथियों की ऐसी कोई राष्ट्रव्यापी साख नहीं है। जो संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टियां चुनाव लड़ती हैं उन्हें मिलने वाला वोट अक्सर दक्षिणपंथी व मध्यमार्गी पार्टियों के 10 वें हिस्से के बराबर भी नहीं बैठता।

नेपाली वामपंथ का चरित्र कैसा था?जहां भारत में अधिकांश वामपंथियों ने ख्रुश्चेव का पक्ष लिया था वहीं नेपाल के अधिकांश वामपंथियों ने चीनी रास्ते का समर्थन किया था । हम यह नहीं कह रहे की सभी चीन समर्थक नेपाली वामपंथी क्रांतिकारी कम्युनिस्ट थे। हम यह कह रहे हैं कि चीनी समाजवाद का समर्थन करना ही इस बात को दर्शाता है कि नेपाली के वामपंथी आंदोलन की गुणवत्त भारत के आंदोलन की अपेक्षा बेहतर थी और वह नेपाली जनता के राजनीतिक संघर्ष की गुणवत्त को बढ़ाती थी। 1996 के पहले CPN (M) के नेतृत्व ने नेपाली संशोधनवाद के खिलाफ जो सघन विचारधारात्मक-राजनैतिक संघर्ष चलाया उससे इस गुणवत्त में और इजाफा हुआ। नेपाल के कम्युनिस्ट आंदोलन का एक और सकारात्मक पक्ष यह है कि नेपाली कम्युनिस्ट भारत में कार्यरत् नेपाली मजदूरों में प्रचारात्मक कार्य करते रहे हैं। यह काम CPN (UML) ही नहीं करती थी बल्कि CPN(M) भी इसे गम्भीरता से लेती रही है। अर्थात्नेपाल के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी सर्वहारा से दूरी बनाये रखने के वैसे विकार के शिकार नही रहे है ंजैसे भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ।

नेपाली राष्ट्रीय राजनीति में एक और घटना घटी जिसने आगे बढ़ते हुए राजनीतिक आन्दोलन को गहरायी प्रदान की। वह घटना थी 1994 के चुनावों के बाद CPN (UML) की सरकार का राज। इस अनुभव ने संघर्षरत् जनता की और आंखें खोली और उसका राजनीतिकरण किया। लोगों को संसदीय पार्टियों व राजशाही के अधीन संसदीय रास्ते की सीमायें और उजागर हुई।

कुल मिलाकर स्थिति यह थी कि 1996 में जनयुद्ध की शुरूआत के पहले नेपाली समाज में एक राजनीतिक आंदोलन आगे बढ़ रहा था। यह आंदोलन अपनी व्यापकता एवं गहरायी दोनों में आगे बढ़ रहा था। जन-संघर्ष उस मुकाम पर पहुंच रहा था जहां वह आगे बढ़ने के लिये संघर्ष के नये रूप पैदा करता। इसमें कोई दो राय नहीं कि फरवरी 1996 आते-आते स्थिति उस मुकाम पर पहुंच चुकी थी कि नये रूप जन्म लेते। इसका इससे बड़ा क्या सबूत हो सकता है कि सशस्त्र संघर्ष की शुरूआत के तीन हफ्ते के भीतर 5000 फौजी एवं गैर फौजी कार्यवाहियां देश के 75 जिलों में से 65 जिलों में हुई। इन में 85% कार्यवाहियों की प्रकृति गैर-फौजी थी। जन-युद्ध की शुरूआत में ही अभूतपूर्व जन-प्रतिक्रिया यह दर्शाती है कि उसके पहले राजनीतिक माहौल कितना गरम हो चुका था।

नेपाल के जनयुद्ध के संदर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि इसकी शुरूआत के समय CPN (M) के नेतृत्व का साफ निर्देश था कि सशस्त्र कार्यवाहियों के दौरान इस प्रारम्भिक चरण में 'सफाये' (annihilation) से परहेज किया जाये ।हमारी जानकारी के मुताबिक 13 फरवरी, 1996 के दिन की सातों कार्यवाहियों में दुश्मन का एक भी आदमी जान से मारा नहीं गया। जन-युद्ध के जोर पकड़ने के बाद ही माओवादी पार्टी ने अपने इस निर्देश में ढिलाई की। यानी कि 13 फरवरी, 1996 के तुरन्त बाद के दौर में पार्टी सशस्त्र संघर्ष के भी जिस रूप को अखतियार कर रही थी वह उस समय कि जन-चेतना के अनुरूप था। बाद में जब प्रति आक्रमण शुरू हुआ और जन उसके विरूद्ध उद्वेलित होने लगा तब पार्टी ने सशस्त्र संघर्ष के उच्च रूपों को अखतियार करना शुरू किया। संघर्ष के रूपों के प्रति ऐसा सूझ-बूझ भरा रवैया जन-दिशा की अच्छी समझ की अभिव्यक्ति है।

नेपाल के उदाहरण से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह नहीं है कि भारत में किसी भी स्थिति में जन-युद्ध की शुरूआत कर देनी चाहिये। उलटे वह यह है कि यदि युद्ध को जनता का युद्ध बनाना है और उसे केवल कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के युद्ध तक सीमित नहीं रखना है तो वह एक सशक्त एवं व्यापक राजनीतिक संघर्ष की उपज होना चाहिये। दूसरा यह कि जन-युद्ध शुरू हो जाने के बाद भी कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक पहलकदमी ही संघर्ष में गुणात्मक छलांगें लगवाती है। जन-युद्ध के दौरान सैनिक पहलकदमी का अपना महत्व होता है लेकिन उसे राजनीतिक पहलकदमी पर वरीयता नहीं दी जानी चाहिये। CPN (M) ने पिछले 8 वर्षो के दौरान इस बात को सुनिश्चित किया है कि सैनिक लाइन राजनीतिक लाइन पर हावी न हो । भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा संचालित छापामार युद्धों में अक्सर यह गलती होती रहती है।

इसके साथ यह बुनियादी प्रश्न कि क्या वजह है कि नेपाल का सशस्त्र संघर्ष पहले दिन से ही जन-युद्ध का चरित्र लिये हुए है जब कि भारत के क्रांतिकारी दो दशक बाद भी अपने सशस्त्र संघर्ष को एक जन-युद्ध नहीं बना पाये हैं। हमें यह उतर देने के लिये मजबूर करता है कि इस का कारण प्रयास एवं त्याग की कमी नहीं है। कि इसका कारण भारतीय राजसत्त एवं समाज की वे भौतिक स्थितियां हैं जिनमें जन के सशस्त्र संघर्ष दीर्घकालिक प्रकृति के नहीं होंगे, वे त्वरित निर्णय की लड़ाइयां होंगी। और यहां भी जनता के ऐसे सशस्त्र संघर्ष अपरिपक्व राजनीतिक स्थितियों में नहीं फूटेंगे।

VI

निष्कर्ष

क्यूबा की क्रांति की विजय के बाद चे ग्वेरा की 'फोकायी थ्योरी' (foci theory) लोकप्रिय हुई । इस सिद्धान्त के मूल तत्व थे:

☐ वस्तुगत परिस्थितियां अंतिम तौर पर निर्णायक नहीं होती है। मनोगत शक्तियों के प्रयासों से इन्हें अपने हक में बदला जा सकता है।

☐ यदि सशस्त्र संघर्ष को अपनी ओर से क्रांतिकारी कार्यवाहियों के पहले दिन से ही संघर्ष का मुख्य रूप बनाया जाये तो जनता इसके इर्द-गिर्द गोलबन्द होने लगती है और वस्तुगत परिस्थितियां क्रांति के लिये अनुकूल होती जाती हैं।

☐ सशस्त्र संघर्ष की शुरूआत छोटे-छोटे गुरिल्ला दस्तों–'फोकी' (foci) – के द्वारा की जानी चाहिये। इस 'फोकी' के इर्द-गिर्द इन की दृढ़ता एवं सशस्त्र संघर्ष में इनकी बहादुरी देखकर त्रस्त जन इनके प्रति आकषित होने लगते हैं। 'फोकी' के इर्द-गिर्द किसानों एवं अन्य मेहनतकशों की गोलबंदी की बदौलत सत्त दखल सम्भव है।

क्यूबा की क्रांति के अनुभवों के आधार पर चे ग्वेरा ने 'फोकायी थ्योरी' दी थी। दुनिया के मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्यूबा क्रांति के इस सार-संकलन से असहमत रहे हैं। क्यूबा कि क्रांति के बाद चे ग्वेरा ने इस सिद्धान्त को पहले कांगो और फिर बोलिविया में लागू करने की कोशिश की। दोनों ही जगह असफलता हाथ लगी और बोलिविया में इसी प्रयास में चे शहीद भी हुए।

भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन चेा को अपना आदर्श नहीं मानते हैं। वे 'फोकायी थ्योरी' को भी औपचारिक तौर पर अस्वीकार करते हैं। लेकिन इसके बावजूद सशस्त्र संघर्ष में लगे कई कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की क्रांति के बारे में समझदारी एवं व्यवहार दोनों ही 'फोकायी थ्योरी' के करीब पहुंच जाते हैं। वे अनजाने ही, अपनी निष्ठाओं एवं मनोगत चिन्तन प्रणाली के चलते, माओ व लेनिन की जन -दिशा का निषेध कर रहे होते हैं। उन्हें अपने मनोगतवादी दृष्टिकोण को छोड़कर लेनिन व माओ के रास्ते पर अविचलित हुए चलना चाहिये। उन्हें नये अनुभवों का विश्लेषण करना चाहिये और यदि इस वस्तुगत विश्लेषण के निष्कर्ष उन्हें दीर्घकालिक लोक-युद्ध के पथ को छोड़कर कोई दूसरा (व सही) पथ अपनाने के लिये कहें तो उन्हें ऐसा करना चाहिये। दीर्घकालिक लोक-युद्ध का पथ छोड़कर किसी ज्यादा सही पथ पर चलने से हम कहीं भी कम माओ पंथी नहीं हो जाते बल्कि लकीर के फकीर न बनकर ही हम अपने आप को सच्चे माओ पंथी साबित कर सकते हैं।

दूसरे हमारी जानकारी में ऐसे परेशान करने वाले तथ्य हैं जिससे यह समझ में आता है कि कई कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने सशस्त्र संघर्ष की शुरूआत समाज व आंदोलन की स्थिति के आकलन पर नहीं बल्कि राजसत्त के दमन के उपरात पैदा हुई संगठन की आन्तरिक स्थिति के कारण किया। यह बहुत ही दिक्कततलब है व गलत बात है। संगठन की आन्तरिक स्थिति किसी काम को करने या न करने के पीछे एक महत्वपूर्ण तथ्य होता है जिसे निर्णय लेने के पहले संज्ञान में लिया जाना चाहिये। लेकिन किसी समाज में जन-संघर्ष की स्थिति को अनदेखा कर यह निर्णय कतई नहीं लिया जाना चाहिये।

जन संघर्ष की स्थिति का वस्तुपरक आकलन करने के बजाय जड़सूत्रवादियों की तरह इस सूत्रीकरण को दोहराते रहना कि भारत में ''पहले दिन से ही सशस्त्र क्रांति सशस्त्र प्रतिक्रांति का सामना कर रही है'' लेनिनवाद का निषेध है। यह गलत पद्धति जन-युद्ध को कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के युद्ध तक सीमित करके रख देती है और मुहिमजोई की प्रवृत्तियों को बल देती है।

तीसरी बात यह कि क्रांति के पथ के चयन को किसी समाज की वर्तमान वस्तुगत परिस्थिति एवं उनके सम्भावित विकास पर आधारित न करना, बल्कि पुरानी क्रांतियों के मॉडल से अभिभूत होकर वस्तुगत परिस्थिति के विकास के बारे में अटकलबाजियों पर आधारित हो कर पथ का चयन करना भी उतना ही गलत है। यह मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का निषेध है।

अन्त में, हम दीर्घकालिक लोक-युद्ध की थीसिस की पैरोकारी करने वाले साथियों से यह अपील करेगें कि भारतीय क्रांति की सफलता हम से पेशेवर क्रांतिकारिता की अपेक्षाएं रखती हैं। अप्रवीणता (उंजमनतशे) के स्तर पर बने रहने से हम 21 वीं सदी की क्रांतियों को सम्पन्न नहीं कर पायेंगे चाहे हम इस के लिये कितना ही खून क्यों न बहा दें, कितनी ही कुर्बानियां क्यों न दे दें।

□□□□□